समाजवाद से सर्वोदय की ओर

लेखक

जयप्रकाश नारायण

अनुवादक

डॉ॰ ओमप्रकाश गुप्त

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रस्तावना

जयप्रकाशजी के निवेदन के लिए प्रस्तावना के तौर पर चार शब्द मैं लिखूँ, ऐसी अपेक्षा प्रकाशकों की तरफ से हुई। वास्तव में वैसी कोई खास जरुरत नहीं थी। फिर भी उनके संतोषार्थ कुछ लिख रहा हूँ।

जयप्रकाशजी के साथ जब से मेरा परिचय हुआ, उनके अनेक गुणों का मुझ पर असर हुआ है। उन सबमें उनके हृदय की सरलता मुझे अधिक खींचती है। उसी सरलता के कारण उनके बारे में काफी गलतफहमियों भी होती हैं और उसी सरलता के कारण वे स्वयं गलतियाँ कर भी सकते हैं। गांधीजी ने स्वराज्य की एक व्याख्या की थी; 'गलतियाँ करने का हक'। जो गलतियाँ नहीं कर सकता, वह कुछ भी नहीं कर सकता। जयप्रकाशजी के निवेदन में पाठकों को एक सरल हृदय का स्वच्छ चित्र देखने को मिलेगा।

जो वाद प्रतिक्रियारूप होते हैं, यद्यपि उस-उस जमाने में उनका कुछ उपयोग हो जाता है, अस्थायी होते हैं। याने उनका चिरंतन मूल्य नहीं होता। व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के तौर पर तरह-तरह के समूहवाद इन दिनों दुनिया में प्रचलित हुए हैं। ये वाद तत्काल बहुत ही आकर्षक हुए। लेकिन उनमें से बहुत सारे अब पिछड़ रहे हैं,
फीके पड़ रहे हैं या विकृत हो नयी प्रतिक्रियाओं को जन्म दे रहे हैं।

सर्वोदय किसी वाद की प्रतिक्रिया नहीं। वह भारत का अपना शब्द है और भारत की अपनी वस्तु है, पर ऐसा शब्द और ऐसी वस्तु नहीं, जो दूसरे किसी देश या काल को लागू न हो सके। देश-काल-परिस्थिति के भेदानुसार उसकी बाह्य पद्धति में फर्क होता रहेगा। (विशिष्ट पद्धति के विषय में अनाग्रह सर्वोदय-विचार का एक मूलभूत तत्व ही है।) लेकिन उसका आन्तरिक रूप शाश्वत रहेगा। इस बारे में 'स्वराज्य-शास्त्र' में मैंने विवरण किया ही है।

जयप्रकाशजी के इस निवेदन में उनके वैचारिक परिवर्तन की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया हमें देखने को मिलती है। उसकी प्रतिध्वनि बहुतों के हृदय में उठनेवाली है। मेरा तो निश्चित मानना है कि अनेकविध एकांगी सद्विचारधाराएँ, परिपूर्णता की तलाश करती हुई, आखिर सर्वोदय-समुद्र में विलीन होनेवाली हैं। जो भी हो, यह निवेदन पाठकों को सर्वोदय-विचार का गहराई से चिंतन करने की प्रेरणा देगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

विनोबा

अरसीकेरे
11-11-57

आमुख

कुछ दिन पूर्व जब मैंने दलीय राजनीति से अलग होने का निर्णय किया, तो मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैंने सामान्य जनता और प्रजा-समाजवादी दल के अपने साथियों के समक्ष अपने इस निर्णय की सार्थकता को स्पष्ट कर दूँ। जो वक्तव्य (पुस्तिका के रूप में) आपके सामने आ रहा है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखा गया है। शुरु में कुछ शब्द खास तौर से प्रजा-समाजवादी दल के अपने साथियों को सम्बोधन करके लिखे गये हैं। तदन्तर अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए अपने व्यक्तिगत विचारों का जिस प्रकार विकास हुआ है, उसका उल्लेख किया गया है। यह सब केवल उन साथियों के लिए नहीं, बल्कि उन सबको ध्यान में रखकर लिखा गया है, जिन्हें इस विषय में रुचि है।

कलकत्ता — जयप्रकाश नारायण
21-12-1957

अनुक्रम

1. पुराने साथियों से

प्यारे साथियों,

काफी चिन्तन के खाद मैंने आपको यह पत्र लिखने का निश्चिय किया है। यह काम मेरे लिए आसान नहीं था। जीवनभर के साथियों से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद करना कभी आसान नहीं होता। हमने साथ-साथ काम किया है, जेलें काटी हैं, अज्ञातवास की जोखिमों से गुजरे हैं और साथ-साथ ही स्वतंत्रता को राख होते देखा है। हम सभी को अभी बहुत कुछ यात्रा पूरी करनी बाकी है।

किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं यह अनुभव करता हूँ कि अब मैं यात्रा के एक ऐसे मोड़ पर आ गया हूँ, जहाँ मुझे साथ छोड़कर बाकी का रास्ता अकेले ही तय करने का निश चय कर लेना चाहिए। यदि आप लोगों को भी अपने साथ चलने के लिए राजी कर सका होता, तो मेरे दिल में वेहद खुशी होती। किन्तु मैं जानता हूँ, कम-से-कम अभी तो यह सम्भव नहीं है। फिर भी मुझे विश्वास है, हमारे रास्ते भिन्न होते हुए भी हम बार-बार एक-दूसरे से मिलेंगे। अन्त में तो सब रास्ते एक हो ही जायेंगे। हम स्वयं भले ही उस दिन को देखने के लिए बाकी न रहें, किन्तु मेरा यह अटल विश्वास है कि दुनिया में यदि कभी शान्ति, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व स्थापित होते हैं, तो समाजवाद को आखिरकार सर्वोदय में विलीन होना ही पड़ेगा।

चार वर्ष पहले बोधगया-सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर ही मैंने राजनीति छोड़ने का निश्चय कर लिया था। किन्तु प्रजा-समाजवादी दल का सदस्य मैं बना रहा, यद्यपि किसी-किसी बैठक में शामिल होने तथा कभी-कभी कुछ सलाह दे देने से के अतिरिक्त दल के कार्यक्रमों में मैंने भाग नहीं लिया। पिछले आम चुनावों से कुछ पहले मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुझे प्रजा-समाजवादी दल की निष्क्रिय सदस्यता से भी मुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु आचार्यजी बीमार थे और उनसे चर्चा किये बिना मैं यह कदम उठाना नहीं चाहता था। इस देश और समाजवादी हित के दुर्भाग्य से आचार्य नरेन्द्रदेव का निधन हो गया। प्रजा-समाजवादी के लिए, जो पहले ही फूट के कारण कमजोर हो गया था, यह एक मर्मान्तिक धक्का था। प्रमुख साथियों ने मुझसे आग्रह किया कि मैं चुनावों के समाप्त होने तक अपने त्याग-पत्र की घोषणा न करूँ। मैं राजी हो गया, किन्तु यह तय था कि जैसे ही चुनाव समाप्त होंगे, मेरे इस्तीफे की घोषणा कर दी जायेगी। इसमें जो देर हुई, उसका एक ही कारण है। मैं चाहता था कि आपके सामने और सामान्यतया पूरे देश के सामने उन सब चीजों को रख दूँ, जिससे प्रेरित होकर मैंने यह सख्त कदम उठाया है। मेरे लिए यह कदम बिल्कुल स्वाभाविक था। सारे मित्रों को जरूर बहुत सख्त मलूम हो रहा है। प्राय: प्रतिदिन कोई-न-कोई व्यक्ति मुझसे यह प्रश्न पूछते हैं कि मुझे राजनीति छोड़नी क्यों चाहिये थी? लोगों का राजनीति पर कितना विश्वास है, उस पर उन्हें कितना भरोसा है, यह देखकर मुझे दया आती है। किन्तु मुझे अपने इस कार्य का औचित्य प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग बताना कठिन मालूम होता है। उसी कठिनाई को दूर करने का मैं यहाँ प्रयास कर रहा हूँ।

राजनीति ने लोगों के दिमागों को इस तरह जकड़ रखा है, और फिर इसका विकल्प भी इतनी आरम्भिक स्थिति में है कि अपने इस वक्तव्य के द्वारा अधिक पाठकों को राजी करने में शायद ही मुझे सफलता मिले। फिर भी मुझे आशा है कि इससे एक दुसरे को अधिक समझने में मदद मिलेगी और जिन विचारों का इसमें प्रतिपादन किया गया है, उनमें लोगों की रूची बढ़ेगी। इसका एक दूसरा पहलू भी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठ-भूमिका से ही चीजों का अवलोकन करता है। जो लोग न तो उन अनुभवों से होकर गुजरे हैं, जिनसे होकर मुझे गुजरना पड़ा है और न उन आदर्शो की खोज के पीछे पड़े हैं, जो मेरे आदर्श रहे हैं। सम्भव है, वे मेरी दलीलों की कदर न करें। समाजवाद या वर्ग-संघर्ष या राजनीतिक आन्दोलन अथवा संसदीय गणतंत्र का जिन्हें नया-नया जोश है,—सम्भव है, वे मेरे आशय को अभी न समझ पायें। अपने विशेष जोश में जब उन्हें कुछ रुकावटों का सामना करना पड़ेगा और उन रुकावटों का हल क्या होगा, इसकी छानबीन करेंगे, तो शायद जल्द मेरी बात उनकी समझ में आये। मेरा यह संकेत हरगिज नहीं है कि मैंने सामाजिक समस्याओं का कोई सर्वथा निर्दोष हल ढूँढ़ लिया है या सर्वोदय ही समाज-दर्शन की इति है। मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है, इसिलिए वह बराबर सत्य की ओर बढ़ रहा है। वह पूर्ण सत्य तक कभी नहीं पहुँच सकता, किन्तु क्रमश: असत्य को कम करते-करते सत्य के पथ पर लग सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, सर्वोदय-विचार और आचार की अनेक कमियों का भविष्य में पता चलेगा और सुधार होगा। मानव-मस्तिक इस प्रकार बराबर सत्य की ओर बढ़ता ही जायेगा। लेकिन मैं भी यह जरूर मानता हूँ कि सर्वोदय आज के वर्तमान सामाजिक तत्त्वज्ञानों और प्रणालियों से स्पष्टतया आगे बढ़ा हुआ और उन्नत विचार है। मैं जिस प्रक्रिया से इस निष्कर्ष पर पहूँचा हूँ, उसे समझाने का प्रयत न करूँगा। मैं जो लिख रहा हूँ, वह किसी तरह भी सर्वोदय-दर्शन

का पूर्ण चित्र नहीं है, मेरे पास तो उस काम के लिए पर्याप्त साधन-सामग्री भी नहीं है। मैं अपनी उस विचार-सारणी के विकास का उल्लेख कर रहा हूँ, जिससे प्रेरित होकर मैंने आखिरकार राजनीति को छोड़ा है।

2. असहयोग से साम्यवाद की ओर

मेरे पिछले जीवन का रास्ता बाहर के लोगों को भले ही टेढ़ा-मेढ़ा और पेचीदा लगे, वे उसे अनिश्चित और अन्धकार में टटोलना समझें। किन्तु जब मैं अपने अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमें विकास की एक अटूट रेखा दिखलायी देती है। उसमें राह खोजने का प्रयत्न था, इससे इनकार नहीं किया जा सकता; किन्तु वह अन्धकारमय हरगिज नहीं था। उसमें एक ऐसी पूर्ण ज्योति थी, जो शुरू से ही न कभी धुंधली पड़ी, न बदली और जो बराबर पेचीदा दिखनवाले मेरे रास्ते पर मेरा मार्ग-दर्शन करती रही है। कम-से-कम मैं तो इस टेढ़ी-मेढ़ी राह के लिए दुखी नहीं हूँ, क्योंकि जिस रास्ते पर अब चलने का मैंने निश्चय किया है, उसके सम्बन्थ में मैं निश्चिन्त हूँ।

अपने लड़कपन में, जैसे उस समय के सभी लड़के होते थे, मैं एक कट्टर राष्ट्रवादी था। मेरा झुकाव क्रान्तिकारी तरीकों की ओर था। उस समय बंगाल इसमें सबसे आगे था। तो भी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास ने मेरे तरुण हदय को मुग्ध कर लिया था। मेरे कान्तिकारी विचार पक्के नहीं हो पाये थे कि गांधीजी का प्रथम सत्याग्रह-आन्दोलन एक चढ़ते हुए तूफान की तरह देश में छा गया। उस जमाने के उन हजारों नौजवानों में से मैं भी एक था, जो सूखी पत्तियों की तरह उस तूफान में उड़कर कुछ देर के लिए आकाश में पहुँच गये थे। एक ऊँचे विचार की उड़ान में बहुत ऊँचे उड़ जाने का वह अल्प अनुभव अन्तस्तल में कुछ ऐसी छाप छोड़ गया, जिसे काल और वस्तुस्थिति की भयंकरता भी मिटा नहीं सकी।

यहीं वह समय था, जब स्वतंत्रता मेरे जीवन का एक आकाश दीप बनी, जो आज तक वैसी ही बनी हुई है। कालान्तर में यह स्वतंत्रता अपने देश की स्वतंत्रता मात्र के भाव का अतिक्रमण करके मनुष्य की सब जगह और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति ही नहीं, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर मानवीय व्यक्तित्व की स्वतंत्रता विचार की स्वतंत्रता, आत्मा की स्वतंत्रता अर्थदात्री बन गयी। यह स्वतंत्रता जीवन की एक निष्ठा बन गयी है। मैं रोटी के लिए, सत्ता के लिए, सुरक्षा के लिए, समृद्धि के लिए, राज्य को प्रतिष्ठा के लिए या किसी अन्य वस्तु के लिए इसके साथ समझौता नहीं कर सकता।

आश्चर्य की बात है, मुझे संयुक्त राज्य अमेरिका में मार्क्सवाद या अधिक स्पष्ट भाषा में, जैसा उस समय यह था, सोवियत कम्युनिज्म की दीक्षा मिली। अमेरिका एक पुनर्निर्मित और सफल पूँजीवादी देश है। सन् 1922 से सन् 1929 तक यह मेरा घर ही था। मेदीसन और बिजकोन्सिन उस समय प्रगतिवाद के गढ़ समझे जाते थे। यहीं यहूदी और यूरोपीय सहपाठियों की संगति में मैंने मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन किया। मैं समझता हूँ, उस समय अंग्रेजी भाषा में मार्क्सवादी जितना भी साहित्य उपलब्ध था, हमने कोई भी बिना पढ़े नहीं छोड़ा था। जर्मन भाषा के एक बहुत तेज विद्यार्थी की सहायता से मार्क्सवादी कुछ ऐसे मूल ग्रन्थों का भी हमने अध्ययन किया था, जिनका अनुवाद नहीं हुआ था। श्री एम० एन० राय के उग्र लेखों ने, जो यूरोप से साम्यवादी गुप्त-गोष्ठियों और खास तौर से एशियाई विद्यार्थियों की गोष्ठियों में प्रवेश कर गये थे, मार्क्सवाद की दीक्षा पूर्ण कर दी।

फिर भी स्वतंत्रता के मेरे लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु उसकी पूर्ति के लिए कान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त गांधीजी की सविनय अवज्ञा और असहयोग पद्धति की अपेक्षा अधिक निश्चित और शीघ्रगामी मालूम हुआ। महान् नेता लेनिन की रोमांचकारी सफलता ने, जिसके विवरण पढ़कर हम कभी अघाते ही नहीं थे, लगता था, क्रान्ति के लिए मार्क्सवादी रास्ते की श्रेष्ठता को नि:संशय सिद्ध कर दिया है।

उसी समय मार्क्सवाद ने समता और बन्धुत्व की एक और ज्योति मेरे लिए जगा दी। केवल स्वतंत्रता पर्याप्त नहीं थी। इसका अर्थ होना चाहिए सबकी, जो लोग निम्नतम स्तर पर हैं, उनकी भी स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता में शोषण से, भुखमरी और दरिद्रता से मुक्ति भी शामिल होनी चाहिए। मैं नहीं कह सकता, वे कौन-से पूर्व अनुभव थे, जिन्होंने मेरे अवचेतन मस्तिक में गरीबों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति की बुनियाद डाल दी थी। लेकिन बीजरूप में सहानुभूति अवश्य थी, मार्क्सवाद ने उसे प्रस्फुटित और प्रौढ़ करके प्रत्यक्ष जीवन में ला दिया। अमेरिका में मेरी जो जीवनचर्या थी, उसने इस प्रक्रिया को और भी पुष्ट और प्रबल कर दिया। मैं एक निम्न मध्यम-वर्गीय परिवार का था। अपने परिवार से मुझे मुश्किल से कुछ सहायता मिल पाती थी। अतएव अपने जीवन-यापन और विश्व विद्यालय के शिक्षण का खर्च निकालने के लिए मुझे एक साधारण मजदूर की तरह खेत और कारखानों में काम करना पड़ता था। समता की बात ने मुझे उतना ही मोहित कर लिया

था, जितना आजादी के आदर्श ने। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर गांधीजी की स्थिति क्या थी, मैं उस समय निश्चित रूप से नहीं जानता था। दरअसल उन दिनों श्री एम० एन० राय जो लिखते थे, उसने मुझे विश्वास दिला दिया (यद्यपि श्री राय भी आगे चलकर अपने इन विचारों से बहुत दूर हट गये) कि गांधीजी सामाजिक कान्ति के विरुद्ध हैं और संकट के समय जल्दी ही शोषणा और असमानता की प्रणाली को स्वीकार कर लेंगे। उस समय मैं यह नहीं समझता था कि सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में गाँधीजी के अपने विचार हैं, साथ ही उसके लिए उनके अपने तरीके भी हैं।

3. साम्यवाद से जनतंत्रीय समाजवाद की ओर

आजादी की लड़ाई और भारतीय साम्यवाद

सन् 1929 में जब मैं अपने देश वापस आया, यह समय मार्क्सवाद के लिए अनुकूल नहीं था। राष्ट्रीय भावना अपनी चरम सीमा पर थी। उसी वर्ष दिसम्बर महीने में, जब गांधीजी कलकत्ता-कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार भारतवर्ष के लिए पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को लार्ड इरविन से स्वीकार कराने में सफल न हुए, तो राष्ट्रीय आजादी की ओर एक लम्बी उड़ान मारने के लिए क्षेत्र तैयार हो गया। पूर्ण स्वराज्य राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य रखा गया और दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में ही महात्मा गांधी ने अपना सुविख्यात नमक-सत्याग्रह शुरु कर दिया। स्वाभाविक ही था, मैं अपने पूरे उत्साह के साथ इस संघर्ष में कूद पड़ा। लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट मुझे इस संघर्ष के किसी भी ओर-छोर पर दिखाई नहीं दिये। यह बात सच है कि उनमें से कुछ लोग मेरठ षड्यन्त्र-केस के सिलसिले में जेलों में बन्द थे। किन्तु काफी लोग बाहर ही थे और सी० पी० आई० का गुप्त संगठन भी किसी-न-किसी रूप में चल ही रहा था। मैं जल्दी ही फरार हो गया था, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के इस अज्ञात क्षेत्र में भी कम्युनिस्ट कहीं दिखाई नहीं दिये। यदि वे भी इस आन्दोलन के फरारी होते, तो दो फरारियों का सम्पर्क गुप्त रास्तों से आसानी से हो सकता था। वस्तुस्थिति इससे भी बदतर थी। मैंने सुना कि वे लोग राष्ट्रीय आन्दोलन को बुर्जुआ आन्दोलन और महात्मा गांधी को भारतीय बुर्जुआ-वर्ग का पिट्ठू कहकर निन्दा कर रहे हैं। मैं शर्म और अज्ञान से भरी हुई उस पूरी कहानी की याद दिलाना नहीं चाहता। मैंने उसका जिक्र यहाँ केवल यह बताने के लिए किया है कि भारतीय कम्युनिस्टों और उनकी मार्क्सवादी छाप से मेरे मतभेद कैसे पैदा हुए। हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट वास्तव में तीसरे या कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, जो उस समय तक पूरी तरह स्टॉलिन के नेतृत्व में आ चुका था, द्वारा निर्धारित नीति का अनुसरण कर रहे थे। कमिन्टर्न-कम्युनिस्ट इंटरनेशनल—सन् 1928 से ही स्पष्टतया गलत नीति पर चल रहा था। उसके परिणामस्वरूप सारी दुनिया के मजदूर और समाजवादी आन्दोलनों में फूट पड़ गयी थी और सारे औपनिवेशिक प्रदेशों में कम्युनिस्ट राष्ट्रीय आन्दोलनों से कटकर अकेले पड़ गये थे। मुझे लगा, जैसा दरअसल बाद में स्वीकार भी किया गया, वह नीति सामान्यतया मार्क्सवादी सिद्धान्त के और विशेषतया महान् नेता लेनिन के द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध औपनिवेशिक नीति के विरुद्ध थी। इस प्रकार भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मेरे मतभेदों ने स्वयं सोवियत रूस के साथ मेरे सैद्धान्तिक विरोध की नींव डाल दी। सोवियत रूस उस समय तक मेरे लिए समस्त कम्युनिस्ट सद् गुणों का उच्चतम नमूना और आदर्श था। कुछ साल पहले से ही रूस में जो सैद्धान्तिक संघर्ष और सत्ता के लिए लडाई चल रही थी, उसने अब तक एक दबी हुई चिन्ता के सिवा मेरे अन्दर और कोई स्थिर प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं की थी। वास्तव में उन घटनाओं के सम्बन्ध में उस समय तक अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी। किन्तु जब अपने देश में सोवियत रूस द्वारा निर्दिष्ट नीति से मुँहामुँही हुई, मेरा मार्क्सवादी ज्ञान उससे सन्तुष्ट हो ही नहीं सका और इसलिए उसका विरोध किये बिना मुझसे न रहा गया।

कांग्रेस-समाजवादी दल

स्वाभाविक था, मैं भारतीय कम्युनिस्ट दल से अलग रहा और स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों में सम्मिलित हो गया। किन्तु उस समय तक स्वतंत्रता या स्वराज्य का अर्थ मेरे लिए केवल राष्ट्रीय आजादी ही नहीं रह गया था, बहुत व्यापक हो गया था। स्वतंत्र भारत का अर्थ मैं समाजवादी भारत करता था और स्वराज्य से मेरा आशय था गरीब और पददलित लोगों का राज्य। इस विषय में प्रसिद्ध कराची-घोषणा के बावजूद मुझे कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम अनिश्चित और अपर्याप्त मालूम

हुए। आवश्यक था, हमने स्वतंत्रता- संग्राम में समान विचार रखनेवाले सैनिकों का एक कांग्रेस-समाजवादी दल संगठित कर लिया, ताकि कांग्रेस की सामाजिक नीति और अधिक निश्चित रूप से समाजवादी हो सके और स्वतंत्रता की लड़ाई ही कुछ और अधिक क्रान्तिकारी ढंग से चलायी जा सके। मार्क्सवादी परिभाषा में उसका अर्थ होता है, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन को जनता के आर्थिक और सामाजिक विस्तार के आन्दोलन से जोड़ देना। कांग्रेस-समाजवादी दल ने कांग्रेस की नीति के सामाजिक-आर्थिक पहलू को स्वरूप देने और आजादी की लड़ाई को मजबूत बनाने में एक बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है। स्वातंत्र्य-संग्राम के कभी न झुकनेवाले और निर्भीक सैनिकों में अधिकांश कांग्रेस-समाजवादी ही थे।

हिटलर का उत्थान और लोकप्रिय मोर्चा

सन् 1930 के आरम्भ में जन-राष्ट्रीय आन्दोलन तेजी पर था। यूरोप में उद्वेगकारी घटनाएँ घट रहीं थीं। उनका चरम उत्कर्ष था—हिटलर का अपने हाथ में पूर्ण सत्ता ले लेना। स्टॉलिन ने भविष्यवाणी की थी कि हिटलर का पतन शीघ्र होगा, क्योंकि एक अर्ध-विक्षिप्त व्यक्ति जर्मनी की जटिल और विषम समस्याओं को सुलझा नहीं सकेगा। स्टॉलिन ने यह भी भविष्यवाणी को थी कि हिटलर की सत्ता के खँडहरों पर कम्युनिस्ट जर्मनी का महल खड़ा किया जायगा। जब इस प्रकार की कोई भी चीज नहीं हुई—बल्कि हिटलर ने उल्टे अपनी शक्ति संगठित कर ली और कम्युनिस्टों, समाजवादियों और शक्तिशाली ट्रेड-यूनियनों को दबा दिया, विश्व-विजय के लिए तैयारी शुरू कर दी और उसकी योजनाएँ सफल होने लगीं—तब आखिरकार क्रेमलिन के स्वामी का आसन डोला और तेजी से पैंतरा बदला गया।

अब खोद-खोदकर कब्र में से स्टॉलिन की गलतियाँ निकालने का प्रचलन हो गया है। कुछ क्रुश्चेव ने खोदकर निकाली हैं। जुकोव*और गहरा खोदने के लिए उत्सुक मालूम होता है। मुझे वैसा कुछ करने की कोई इच्छा नहीं है। किन्तु मैंने अन्यत्र जो कहा है, उसे दोहरा देना चाहता हूँ कि एक समय आयेगा, जब स्टाँलिन की गलतियों में सबसे अधिक गम्भीर, सबसे अधिक दूषित और सबसे अधिक महँगी पड़नेवाली गलती, उसका उन विघटनकारी नीतियों को अपनाना घोषित होगा, जिनके कारण हिटलर के हाथ में सत्ता आयी। जर्मनी के कम्युनिस्टों ने यदि स्टॉलिन से प्रेरणा लेकर सोशल-डेमोक्रेटों को अपना प्रथम श्रेणी का और नाजियों को तदुपरान्त ही अपना शत्रु घोषित न किया होता, तो हिटलर कभी भी जर्मनी का मालिक नहीं बन सकता था। समाजवादी एकता और लोकप्रिय मोर्चे की जो नीति नाजीवाद की सफलता के बाद अपनायी गयी थी, यदि शुरू से ही उस पर अमल किया गया होता, तो नाजी आतंक और द्वितीय महायुद्ध का कभी दर्शन ही न होता।

इस लोकप्रिय मोर्चे की नीति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने संकेत पाकर अपना रुख बदला और वर्षों तक आक्षेप करने, निन्दा और गालियाँ देने के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने अचानक राष्ट्रीय मोर्चा स्वीकार करके उसका समर्थन किया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस-समाजवादी दल की संधि

अभी भी मार्क्सवाद से आत्मीयता होने के कारण इस नयी नीति से मेरा हदय आनन्दमग्न हो गया और मैरी आशाएँ ऊँची उठने लगीं। मैं एक संयुक्त सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट दल की सम्भावना के स्वप्न देखने लगा। मुझे लगा, इस प्रकार के संयुक्त नेतृत्व में स्वातंत्र्य-आन्दोलन और भारतीय समाजवाद दोनों बड़ी तेजी से कूदते-फाँदते हुए आगे बढ़ेंगे।

श्री राममनोहर लोहिया, एम० आर० मसानी, अच्युत पटवर्धन और अशोक मेहता जैसे मेरे कुछ प्रमुख साथियों ने इस नीति का विरोध किया। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि इसका अन्त दुःखद होगा। किन्तु मेरे मार्क्सवादी जोश ने मेरी तर्कशक्ति पर विजय पा ली और नरेन्द्रदेव जैसे आदरणीय साथी के समर्थन से मैं अपने स्वप्नों और आशाओं को लेकर आगे बढ़ आया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार कांग्रेस-सोशलिस्ट दल की सदस्यता कम्युनिस्टों के लिए खोल दी गयी। कांग्रेस-सोशलिस्ट दल की शाखाएँ, खास तौर से दक्षिण-भारत में, जान-बूझकर कांग्रेस-

*यह जूकोव को बरखास्तगी के पहले लिखा गया था। उसकी बरखास्तगी की आशंका तो थी, क्योंकि जहाँ और बहुत-से-कारण थे, वह स्टॉलिनवादी पापों का भडाफोड़ करने में जहाँ क्रुश्चेव था, वहीं तक रुके रहने को तैयार न था।

सोशलिस्ट दल के वफादार लोगों की उपेक्षा करके कम्युनिस्टों के हाथों सौंप दी गयी। कांग्रेस-सोशलिस्ट दल के समर्थन से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तथा कांग्रेस की अन्य संस्थाओं में भी कम्युनिस्ट चुने गये। ट्रेड-यूनियन आन्दोलन के सम्बन्ध में यह तय हुआ कि दोनों मिलकर साथ-साथ काम करें।

संयुक्त मोर्चे के मायाजाल से मुक्ति

इस नीति के घातक परिणाम सर्वविदित हैं। प्रसंग के लिए उनमें से एक तो यहीं है कि सारा दक्षिण भारत कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में चला गया। किन्तु उस दुःस्वप्न जैसे अनुभव से एक बड़ा लाभ हुआ। उसने राजनीति के क्षेत्र में हमें एक अच्छा सबक सिखा दिया। हम लोगों ने, हममें से कुछ ने काफी दुःख के साथ सीख और समझ लिया कि किसी प्रमाणप्राप्त कम्युनिस्ट पार्टी के साथ ऐक्य नहीं हो सकता। कमिन्टर्न से सम्बद्ध या क्रेमलिन से प्रमाणित कम्युनिस्ट पार्टी मास्को के हाथ की कठपुतली मात्र है। यह स्वतंत्र प्रतिनिधि नहीं है। ऐसी पार्टी के सदस्य पहले रूस के प्रति वफादार होते हैं, उसके बाद ही किसी दूसरे के प्रति वफादारी दिखा सकते हैं। कम्युनिस्ट पार्टियाँ जब-जब संयुक्त मोर्चे की बात करती हैं, वह हमेशा एक बहाना होता है और नहीं तो संकटपूर्ण स्थिति से विवश होकर अपनायी हुई एक अल्पकालिक नीति। एकछत्र कम्युनिस्ट राज्य ही हमेशा उनका एकमात्र लक्ष्य रहता है। कम्युनिस्ट बला टालने को वृति से अपने पिट्ठुओं के सिवा किसी दूसरे को सत्ता देने की बात कभी सोच ही नहीं सकते। ये थे वे अमूल्य सबक, किन्तु इनके लिए जो कीमत चुकानी पड़ी, शायद वह बहुत ज्यादा थी। युद्ध ने इन निष्कर्षों को और भी पुष्ट कर दिया और इतनी अधिक आशा के साथ जो समझौता किया गया था, उसे असंदिग्ध रूप से रद्द करने के लिए विवश कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद इस समय पुनर्जन्म की प्रासव-वेदना से गुजर रहा है। किन्तु अभी भी यह बताना सम्भव नहीं है कि जो शिशु होगा, यह मृत होगा या जीवित। मेरे जैसे व्यतियों की तो यही हार्दिक इच्छा है कि अन्ततोगत्वा इसका परिणाम शुभ हो, सुखद हो।

रूसी मुकदमे और हत्याएँ

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ हमारे जो प्रत्यक्ष अनुभव थे, उनके अतिरिक्त लगभग उसी समय स्वयं सोवियत रूस में कुछ ऐसी दूसरी घटनाएँ घट रही थीं, जिन्होंने मेरी विचार-सरणी को बहुत अधिक प्रभावित किया। ये घटनाएँ थीं रूस के उन प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेताओं पर चलाये गये कुख्यात मुकदमे, जिनकी रचनाओं को मैंने बड़ी उत्सुकता के साथ घोलकर पी डाला था और जो मेरे लिए महान् क्रान्तिकारी शूर-वीर थे, जिन्होंने लेनिन के अति विश्वासपात्र साथियों के रूप में इतिहासप्रसिद्ध महान् क्रान्ति की थी।

इन मुकदमों के विवरण के साथ-साथ कालान्तर में जिस अन्यायपूर्ण शासन ने रूस को जकड़ रखा था, उसके सम्बन्ध में ऐसे व्यक्तियों के द्वारा जिन्हें मैं ईमानदार समझता था, अध्ययन करके लिखी हुई चीजें भी आयीं। यूजीनलियनस की 'एसाइनमेन्द इन युटोपिया है', जो मेरे विचार से एक उत्कृष्ट साहित्य-रचना है, उन प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है, जिसने मेरे मन को उद्वेलित कर दिया। तत्पश्चात् दूसरे विवरण प्राप्त हुए। जॉन डुई ने ट्राटस्की के मामले की छानबीन की। उनके जो निष्कर्ष थे, उन्हें झुठलाना असम्भव था। कामेनेव, जाईनोवियफ, राडेक, रिकोव, बुखारिन आदि व्यक्तियों के विरुद्ध लगाये गये आरोप और उनके द्वारा की हुई अपराध-स्वीकारोक्ति बेहद बेचैनी मैदा करती थी। कम्युनिस्ट नभोमण्डल के अन्य और कुछ अल्प प्रकाशवाले सितारों को भी वही भयंकर दुर्गति हुई। क्रुश्चेव ने अब कुछ ऐसे मुकदमों की निन्दा की है, जिनमें उसका हाथ नहीं था। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि सोवियत रूस में जैसे-जैसे स्वतंत्रता का प्रसार होता जायगा, दूसरे कम्युनिस्ट नेता दूसरे-दूसरे अत्याचारों का भण्डाफोड़ करेंगे और एक दिन आयेगा, जब ट्राटस्की तक को पुनः उसी आदर के स्थान पर बिठा दिया जायगा, जिसका वह अधिकारी था।

मार्क्सवाद का पुन:परीक्षण

इन सब घटनाओं और अनुभवों ने मुझे मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों की पुनः जाँच करने के लिए मजबूर कर दिया। समाजवादी आन्दोलन के मेरे अधिकांश साथी पुनश्चिन्तन की उस कष्टसाध्य प्रक्रिया से परिचित हैं, क्योंकि हम साथ-साथ ही उस दौर से गुजरे हैं। सैद्धान्तिक पुनश्शिक्षण की इस प्रक्रिया का कांग्रेस-समाजवादी दल और तत्पश्चात् पुराने समाजवादी दल के विकास और प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

कांग्रेस-समाजवादी दल का संगठन एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी गुट के रूप में हुआ था। प्रारम्भिक काल में हम हमेशा यह दावा किया करते थे कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और क्रेमलिन दोनों भारतवर्ष में खास तौर से तथा विश्व की स्थिति में आम तौर से मार्क्सवादी लेनिनवाद का मिथ्या प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु अब भी मन में एक गम्भीर प्रश्न खड़ा को गया, मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कुछ भी अर्थ किया जाय, फिर भी वया वह सामाजिक क्रान्ति और समाजवाद की स्थापना के लिए एक स्वयंपूर्ण और सुरक्षित मार्गदर्शक हो सकता है? हिंसा क्रान्ति की पोषिका है, यह मान्यता यदि पूरी तरह नहीं मिटी थी, तो भी कम-से-कम इतना तो मुझे साफ दिखाई देता था :

(क) एक ऐसे समाज में, जहाँ गणतान्त्रिक ढंग से सामाजिक परिवर्तन करना लोगों के लिए सम्भव था, हिंसक तरीकों को अपनाना क्रान्ति के विरुद्ध कार्य है।

(ख) गणतात्रिक स्वतंत्रताओं के अभाव में न तो समाजवाद की सृष्टि हो सकती है और न उसका रक्षण ही। इस तर्क के आधार पर मैंने सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धान्त को व्यवहार में, जिसका अर्थ मुट्ठीभर अफसरों की तानाशाही होता है, अमान्य कर दिया।

रूसी क्रान्ति एक जन-क्रान्ति के रूप में आरम्भ हुई थी, जिसे जॉरशाही रूस की विस्तृत जनता का सक्रिय समर्थन प्राप्त था। किन्तु जब लेनिन ने संविधान सभा को, जिसमें वह एक बड़े अल्पमत में था, बलपूर्वक भंग कर दिया और विद्रोही सिपाहियों तथा शहरी मजदूर-वर्ग की सहायता से सत्ता पर कब्जा कर लिया, तो उसने इस जन-क्रान्ति को अल्पसंख्यकों की क्रान्ति में बदल डाला। क्रान्ति की बादवाली असफलता और समाजवाद की विकृति मेरे खयाल से एक अल्पमत के द्वारा बलपूर्वक सत्ता-अपहरण के प्रत्यक्ष परिणाम थे।

इस प्रकार मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि जहाँ जनता में लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं का अभाव हो, वहाँ भी हिंसक क्रान्ति के लिए लोकप्रिय समर्थन मिलना चाहिए और क्रान्तिकारी सरकार के लिए जनता के बहुमत का आधार होना चाहिए। वैधानिक चुनावों की अपेक्षा क्रान्ति के दौरान में लोकेच्छा की अभिव्यक्ति आसान होती है। सामाजिक क्रान्ति में लोकेच्छा क्या है, इसका पता लगाने की पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। जनता की स्वाभाविक प्रवृति सदैव स्वतंत्रता और गणतंत्र के पक्ष में ही होती है। जान-बूझकर तानाशाही स्वीकार करने की वृत्ति उनमें हरगिज नहीं होती। कम्युनिस्टों ने लेनिन की प्रतिभाशाली प्रेरणा पाकर अपने कुटिल साधनों से सर्वत्र जाता के उपर अपने अल्पमत और तानाशाही शासन को मढ़ने का प्रयत्न किया है। चीन में शायद इसका अपवाद हम मिले। वहाँ च्यांगकाई शेक की अपेक्षा माओ-त्से-तुंग के पक्ष में एक बड़ा जन-समुदाय दीख पड़ता है। यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं है कि चीनी सरकार एक तानाशाही सरकार नहीं है। कदाचित् वह एक बहुमत की अल्पमत के ऊपर तानाशाही है। और भी, शायद यूगोस्लाविया में ऐसा है। अन्यत्र कम्युनिस्ट राज्य एक अल्पमत का राज्य ही है। किन्तु अल्पमत में हो या बहुमत में, जहाँ कहीं कम्युनिस्ट सत्तारूढ़ हैं, उन्होंने निरपवाद तानाशाही की स्थापना की है, उसे वे अपनी सामान्य दुमानी भाषा में जनता का राज्य अथवा समाजवादी प्रजातंत्र तक कह डालते हैं। इन सबने मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि समाजवाद का रास्ता किसी प्रकार की भी तानाशाही से नहीं गुजरता।

सोवियत अनुभव ने मेरे लिए यह बात और भी स्पष्ट कर दी कि समाजवाद पूँजीवाद का अभाव मात्र नहीं है। यह सम्भव है कि पूँजीवाद नष्ट हो जाय, उद्योग, वाणिज्य, बैंक-व्यवस्था, कृषि आदि सबका राष्ट्रीयकरण और सामूहीकरण हो जाय और फिर भी समाजवाद बहुत दूर ही रह जाय। समाजवाद बहुत दूर रह जाय, इतना ही नहीं; बल्कि यह भी सम्भव है कि बिल्कुल उसके विरुद्ध ही चला जाय। सोवियत रूस में हमने केवल 'औपचारिक' स्वतंत्रता का निषेध ही नहीं देखा, बल्कि सामाजिक न्याय और समता का भी निषेध देखा। अफसरशाही शासकों के एक नये वर्ग की वृद्धि तथा शोषण के नये-नये रूप भी हमने देखे। यह सब समाजवाद का अभावमात्र नहीं था, बल्कि उसका निषेध भी है।

रूस में समाजवाद

मुझे लगा कि रूस में जो यह सब कुछ हुआ है, यह किसी सिर फिरे हुए व्यक्ति के दुष्ट कर्मों का परिणाम नहीं है—जैसा क्रुश्चेव आज चाहते हैं कि हम विश्वास कर लें—बल्कि यहाँ जिस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था कायम की गयी थी, यह उसीकी अन्तिम निष्पत्ति है। राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण और सम्पूर्ण राष्ट्रवाद ही स्पष्ट रूप से इस बुराई की जड़ में थे। पीछे मुड़कर देखते हैं, तो अब वह भी कोई समाधानकारक उत्तर नहीं लगता, क्योंकि यह पूछना उचित ही है कि अत्यधिक केन्द्रीकरण और राष्ट्रवाद के मूल में क्या था? इसके दो उत्तर हो सकते हैं: एक यह कि मार्क्स की कल्पना थी कि समाजवादी क्रान्ति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में सर्वहारावर्ग के द्वारा सम्पन्न होगी। उसमें एक ऐसे (बुर्जुआ) पूँजीवादी राष्ट्र के, जहाँ पूरी तरह से औद्योगीकरण हो चुका है, स्वभावतया बहुसंख्यक लोग सम्मिलित हो जायँगे। इसके विपरीत लेनिन ने औद्योगीकरण की दृष्टि से पिछड़े हुए देश में समाजवादी क्रान्ति खड़ी करने का बीड़ा उठाया। वह एक अत्यधिक केन्द्रीत और अर्ध-सैनिक अनुशासन में संगठित कुछ दृढ़-संकल्प क्रान्तिकारियों के दल की ताकत पर अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहता था। जून-जुलाई सन् 1957 के सोवियत सर्वे में 'फ्राम मार्क्स टु मॉओ' (मार्क्स से मॉओ तक) शीर्षक अपने अति उत्कृष्ट लेख में जॉन कॉटस्की जैसा लिखता है:

"मार्क्स का विश्वास था कि समाजवाद वर्तमान भौतिक परिस्थितियों में से पैदा होगा। जिस समय समाज का आर्थिक संगठन अपनी आवश्यक परिपक्व अवस्था में पहुँच जायगा, मजदूर-वर्ग स्वत: समाजवाद की स्थापना करके क्रान्ति का साधन बन जायगा। दूसरी और लेनिन की कल्पना के मूल में, जैसा बार्बेयफ से लेकर बाकूनिन तक मार्क्स से पहले के सभी उतावले समाजवादी सोचा करते थे, यह भाव था कि समाजवाद की स्थापना के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक परिस्थितियों का महत्त्व नहीं है, महत्त्व केवल अन्तर्दृष्टि, संकल्प और इनसे भी अधिक राजनीतिक सत्ता को कब्जे में करने का है।" दूसरे, स्टॉलिन ने लेनिन का अनुसरण करते हुए एक पिछड़े हुए देश में औद्योगीकरण की एक बड़ी जबरदस्त लादी हुई प्रक्रिया को कार्यान्वित किया। इन परिस्थितियों में यह काम बिना गिरोहबन्दी, दबाव और स्वतंत्रता को कुचले पूरा हो ही नहीं सकता था। प्रोफेसर पॉल० ए० बारान, जो अमेरीका के एक बड़े विश्वविद्यालय स्टैण्डफर्ड में शायद अकेले ही मार्क्सवादी शिक्षक हैं, दी पोलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ ग्रोथ, एन० वाई० 1957 में लिखते हैं: "द्वितीय महायुद्ध के पहले सोवियत युनियन में और उसके पश्चात् सारे पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप में जो जघन्य अपराध और गलतियाँ की गयी हैं, उन्हें स्टॉलिन, बेरिया और उनके साथियों की दुश्चरित्रता के मत्थे थोपना व्यक्ति-पूजा के एक ही सिक्के का दूसरा पहलू है। यह मसला इतना आसान नहीं है; यह सामान्य विचार समझने लायक है कि नेताओं ने जो पाप या गलतियाँ की हैं, उनकी जिम्मेदारी दरअसल उस 'पूरी पद्धति' पर है। फिर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि समाजवाद ही वह 'पूरी पद्धति' है और इसलिए उसके परित्याग की जरूरत है, एक गहरी भूल होगी। क्योंकि स्टॉलिन और उसके हाथ की कठपुतलियों ने जो दुष्कर्म किये हैं, उनके लिए न्यायपूर्वक 'समाजवाद' को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दोष तो उस राजनीतिक पद्धति का है, जो एक पिछड़े हुए देश में, जहाँ एक ओर तो विदेशी आक्रमण का भय लगा है और दूसरी ओर आन्तरिक अवरोध खड़ा है, अन्धाधुन्ध गति से उसके औद्योगिक विकास की योजनाओं में से प्रकट होती है।"

रूस में और तत्पश्चात् उसका अनुकरण करके प्रत्येक कम्युनिस्ट देश में अन्ततोगत्वा जो राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे कायम हुए, उनका स्पष्टीकरण इन दोनों सामाजिक प्रक्रियाओं के संयोग से हो जाता है।

भारतवर्ष के लिए एक सबक

संयोग से इसमें भारतवर्ष के लिए और यों औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए एशिया के सभी देशों के लिए एक अच्छा सबक है। एशिया का प्रत्येक देश औद्योगीकरण की और तेजी से कदम बढ़ाने के लिए उत्सुक है। जोर-जबरदस्ती से जब यह कदम आगे बढ़ाया जाता है, तो क्या परिणाम आते हैं, रूस और दूसरे कम्युनिस्ट देश हमें चेतावनी दे रहे हैं। इसलिए एशियावालों को समाजवाद तक पहुँचने का अपना ही कोई रास्ता और औद्योगीकरण का अपना ही कोई नमूना खोज लेना चाहिए। यह सोचना भ्रामक होगा कि यदि लोकतांत्रिक व्यवस्था के संरक्षण में औद्योगीकरण की प्रक्रियाएँ चलती हैं, तो फिर औद्योगीकरण की गति से कोई डर नहीं है। एक निश्चित हद के बाहर जाते ही औद्योगीकरण की गति स्वत: अनिवार्य रूप में तानाशाही की परिस्थिति पैदा कर देगी।

मैं कह रहा था, जैसे ही इनमें से कुछ चीजों को मैंने देखना और समझना आरम्भ किया, मेरा दिमाग स्वतः विकेन्द्रीकरण के विचारों की ओर मुड़ने लगा। मैं राज्य-सत्ता के क्रमिक विनाश और सामूहिक आचार-व्यवहार तथा सामाजिक नियन्त्रण की वैकल्पिक रूपरेखा गढ़ने की बात सोचने लगा।

साधन और साध्य

मार्क्सवाद में कैसे ही साधन क्यों न हों, यदि उनसे सामाजिक क्रान्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती है, तो वे अच्छे साधन ही समझे जाते हैं। मार्क्सवाद नैतिक मूल्यों में विश्वास नहीं रखता। किन्तु यद्यपि उनके नैतिक मूल्यों में विश्वास न रखने की चारों ओर निन्दा होती है, नैतिक मूल्यों का अभाव किसी हालत में भी उनकी निजी विशेषता नहीं है। राजनीतिज्ञों ने शब्दों में कितनी ही निन्दा क्यों न की हो, किन्तु आचरण में इन लोगों के भी अनादिकाल से नैतिक मूल्यों का अभाव ही चला आ रहा है। आज भी राजनैतिक आचरण की बुनियाद सब जगह इसी सिद्धान्त पर टिकी है कि साध्य की पूर्ति हो, तो फिर साधन कैसे भी हों। ऐसा बहुत कम होता है, जब महात्मा गांधी की तरह कोई महान् आत्मा राजनीति में कदम रखती है और राजनीति में नैतिक मूल्यों का प्रवेश होता है।

रूस में निंदित साधनों से निंदित साध्यों की निष्पत्ति हुई। खास तौर से जब अपने विरोधी नेताओं को खतम करने की प्रक्रिया चल रहीं थी, उस बीच भयंकर-से-भयंकर जुर्म करने के लिए जिन घृणित साधनों का उपयोग किया गया, मावर्सवादी-क्रान्तिकारी नीति के विरुद्ध मेरा मन बगावत कर उठा और मैं यह सोचने के लिए विवश को गया कि क्या बुरे साधनों से कभी भी शुद्ध साध्यों की प्राप्ति हो सकती है?

यह देखने में आयेगा कि यह सब शंका-समाधान और पुनश्चिन्तन धीरे- धीरे मुझे गांधीजी के नजदीक ला रहा था। किन्तु मैं अभी भी पूरी तरह से गांधीनिष्ठ नहीं हुआ था। इसलिए लोकतांत्रिक समाजवाद की मध्यवर्ती स्थिति में अपने को पाता था।

जिन दिनों मैं अधिक कट्टर मार्क्सवादी था, यूरोपीय समाजवादी लोकतंत्र, ब्रिटिश फेबियन-वाद और व्यवहारवादी समाजवाद की कटु आलोचना किया करता था। इसलिए मार्क्सवाद से मुँह मोड़ने पर मैं जिसे अब तक सुधारवाद और संशोधनवाद की दलदल समझता आया था, उसमें फँसना नहीं चाहता था। मैं सोचता था, मेरा समाजवाद अब भी क्रान्तिकारी समाजवाद होगा, जो समाज में आमूल परिवर्तन करेगा। फिर भी स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के उच्च मानवीय मूल्यों को बढ़ावा देगा और सुरक्षित रखेगा। यह मानना चाहिए कि इस नये समाजवाद को व्यावहारिक रूप देना आसान काम नहीं था और अब भी यह काम पूरा होने को बाकी ही है।

पाश्चात्य समाजवाद

जब से एशिया ने यूरोप के हाथों से पुनः अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल की है, यद्यपि यह प्रक्रिया अब भी पूरी होने को बाकी है, यूरोप के समाजवादी हमारे यहाँ आ रहे हैं और हर प्रकार की सलाह हमें दे रहे हैं। इस सलाह और मैत्री का हम स्वागत करते हैं, किन्तु एक छोटी-सी बात है, जिसे यूरोपीय समाजवादियों को भूलना नहीं चाहिए। यदि यूरोपीय साम्यवाद असफल हुआ है, तो यूरोपीय समाजवाद को भी कोई प्रत्यक्ष सफलता नहीं मिली है। जर्मनी की सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद को गर्व था। उसका पोषण समाजवाद के इतिहास में प्रख्यात स्वयं एंगिल्स, वेक्लि्, कॉटस्की, ज्येष्ठ लिक्नेख्ट, जिसे मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'कैपिटल' का प्रथम भाग समर्पण किया था, और बहुत से दूसरे नेताओं के द्वारा हुआ था। तो भी जर्मन सोशल-डेमोक्रेटों को जब प्रथम महायुद्ध के बाद इतिहास में राज्य करने का एक अवसर मिला, वे उसे पार नहीं लगा सके। फ्रान्स के समाजवाद का विवरण तो बहुत ही निराशाजनक रहा है। उसका सबसे बड़ा कलंक तो गी मोले की सरकार का इंग्लैण्ड की अनुदारदलीय सरकार के साथ मिस्र के ऊपर साम्राज्यवादी आक्रमण करने के लिए साँठगाँठ करना है। इटली के नेतृत्व में खास तौर से इटली की पहली सरकार के दौरान में इंग्लैण्ड के मजदूर-दल ने अवश्य अपने देश में और बाहर भी समाजवाद का नाम रखा है। मिस्र-काण्ड के अवसर पर भी गेटस्केल के नेतृत्व ने निःसन्देह इंग्लैण्ड के समाजवाद की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। फिर भी इंग्लैण्ड के समाजवादियों के कई आपत्तिजनक कार्य रहे हैं और ग्रेट ब्रिटेन अब भी समाजवादी प्रजातंत्र से कोसों दूर है। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त, जिसकी अनुदार दल द्वारा बराबर तीव्र

आलोचना हुआ करती है, समाजवाद का एक हल्का स्वरूप ठहराता है। यह भी खतरे में है, कहीं श्री मैकमिलन साहब उसे यथा-अवसर राज्य में न बदल डालें। यह बात सच है कि स्कैण्डेनेविया में, खास तौर से स्वीडन में, लोकतांत्रिक समाजवाद को कुछ अधिक सफलता मिली है, किन्तु वहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि समाजवादी आदर्श पूरी तरह सिद्ध हो गये हैं। स्वीडन में समाजवाद को यूरोप के अन्य देशों से अधिक सफलता मिलने के अनेक कारणों में से कदाचित् वहाँ की आबादी का कम होना और वहाँ सहयोग आदि समाजवाद के राज्येतर कार्यक्रमों पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देना है। इन दोनों चीजों में, जैसा आगे पता चलेगा, समाजवाद को सर्वादय तक ले
जाने की बहुत अधिक क्षमता है।

मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी दोनों मिलकर यूरोपीय समाजवाद औद्योगीकृत समाज का एक चित्र है। मार्क्स तथा यूरोप के अन्य समाजवादी विचारकों की कल्पना के अनुसार समाजवाद समाज की वह स्थिति समझी जाती थी, जो पूँजीवाद के सम्पन्न हो जाने के बाद प्राप्त होती है। एशिया में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास अपनी शैशवावस्था में है। एशियाई देशों की जनता अधिकांश ग्रामीण और खेतिहर है। यूरोप के समाजवादी इस प्रकार के वातावरण में समाजवाद कैसे कायम किया जाय, इससे परिचित नहीं हैं। अतएव उनके अनुभव से विशेष मार्गदर्शन नहीं मिल सकता। कम्युनिस्ट जरूर रूस और चीन जैसी पिछड़ी हुई और ग्रामीण जातियों में, और नहीं तो सत्ता पर कब्जा करने में बिना शक सफल हुए हैं। किन्तु उन्होंने जिस समाजवाद का निर्माण किया है, वह समान और स्वतंत्र लोगों के भाईचारे से, जिसे मैं सच्चा समाजवाद मानता है, बहुत दूर की बात है।

एशियाई समाजवाद की सीमाएँ

अतएव एशियाई समाजवादियों को बहुत कुछ अपने ही साधनों पर निर्भर रहना होगा। मैं यह नहीं सुझा रहा हूँ कि हमें पाश्चात्य समाजवाद या रूसी साम्यवाद से कुछ सीखना नहीं है। मेरा कहना है, चिन्तन, प्रयोग और परिवर्तन करने के जो काम हमारे सामने हैं, उनका वहुत बड़ा हिस्सा हमें अपने-आप ही करना पड़ेगा। मुझे लगता है, भारतीय समाजवादी आन्दोलन में पिछले कुछ वर्षों से मौलिक चिन्तन और प्रयोग का काम रुक गया है। अब समय आया है, जब फिर से अन्वेषण का यह काम शुरू होना चाहिए। इस काम में विकास की जो दो भिन्न धाराएँ आज चल रही हैं, उनसे काफी मदद मिलनी चाहिए। इनमें से एक है सामाजिक क्रान्ति और पुनर्निर्माण की गांधीय प्रक्रिया, जिसका भूदान, ग्रामदान और ग्रामराज-आन्दोलन के रूप में प्रकट दर्शन हो रहा है। दूसरी है, आर्थिक धन्धों पर राज्य के स्वामित्व और अफसरशाही व्यवस्था की संचित अनुभव-निधि, जिसे भ्रमवश समाजवाद समझा जा रहा है।

पुन:परीक्षण और पुनर्मूल्यन की जिस प्रक्रिया का मैने संक्षेप में ऊपर वर्णन किया है, यह कांग्रेस-समाजवादी दल और पुराने समाजवादी दल में जो लोग काम कर रहे थे, उन सबका सामूहिक अनुभव है। जिन परिणामों की मैंने उपर सूचना दी है, वे भी सम्मिलित और सामूहिक थे। प्रजातंत्र पर जोर, विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता, साधन भी नैतिक दृष्टि से साध्य के अनुरूप होने चाहिए—इसकी अनुभूति, ये समान अनुभव से निकले हुए समान निष्कर्ष थे। इस प्रकार अनेक जन्म-जन्मांतरों के उपरान्त मार्क्सवादी-लेनिनवादी कांग्रेस-समाजवादी दल लोकतांत्रिक समाजवादी अर्थात् प्रजा-समाजवादी दल के स्वरूप में विकसित हुआ।

4. समाजवाद से सर्वोदय की ओर

यहाँ तक मैं बड़े मैत्रीपूर्ण वातावरण में, जिसकी स्मृति मेरे शेषजीवन को बराबर मिठास देती रहेगी, पार्टी के अपने साथियों के साथ काम करता रहा। किन्तु कुछ वर्ष पहले मेरे रास्ते में एक मोड़ आया और हमारा साथ छूट गया। अलग होने की यह क्रिया तो, दर्पोक्ति में जिसे 'जीवन-दान' कहते हैं, उसीसे आरम्भ हो गयी थी। मेरे लिए जीवन-दान का अर्थ दल और सत्ता की राजनीति छोड़कर अपने शेष जीवन को भूदान और सर्वोदय-आन्दोलन में लगाने के निर्णय से अधिक कुछ नहीं था।

स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की वहीं पुरानी ज्योति, जिसने मेरे जीवन का रास्ता प्रशस्त किया था और जो

मुझे लोकतांत्रिक समाजवाद की और लायी थी, सड़क के इस मोड़ पर मुझे आगे बढ़ा लायी। मुझे यही खेद है कि मैं अपनी जीवन-यात्रा में जब गांधीजी हमारे बीच विद्यमान थे, इस स्थल पर नहीं पहुँच सका। फिर भी कुछ वर्ष पूर्व मुझे विश्वास हो गया कि हमारा आज का समाजवाद मानव-जाति की स्वतंत्रता, बन्धुत्व, समानता और शान्ति के उत्कृष्ट लक्ष्य तक नहीं ले जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद किसी भी प्रतिस्पर्धा सामाजिक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा मानव-जाति को उन लक्यों के अधिक निकट ले जाने का आश्वासन देता है। किन्तु मुझे विश्वास हो गया है कि जब तक समाजवाद सर्वोदय में रूपान्तरित नहीं हो जाता, वे लक्ष्य इसकी पहुँच के बाहर रहेंगे और जिस प्रकार हम आजादी के आनन्द से वंचित रह गये, वैसे ही आनेवाली पीढ़ियों को समाजवाद से वंचित रहना पड़ सकता है।

भौतिकवाद और अच्छाई

मैं जब पूना में तीन सप्ताह का उपवास कर रहा था, उसी समय यद्यपि राजनीति से नहीं, मार्क्सवाद से मेरा पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। रूस की नृशंस हत्याओं के कारण शंकाओं की जो एक लम्बी प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी, अब उसका अन्त को गया। यह साफ मालूम हो गया कि तात्त्विक दृष्टि से भौतिकवाद में न तो नैतिक व्यवहार के लिए कोई आधार है और न अच्छा बनने के लिए कोई प्रेरणा या अभिक्रम ही।

मनुष्य, उसकी चेतन-शक्ति, समाज और संस्कृति—जिसका उसने निर्माण किया है—यदि ये सब भूत-द्रव्य की, फिर यह द्वन्द्वात्मक दृष्टि से चाहे कितना ही सक्रिय क्यों न हो, अभिव्यक्ति मात्र है, तो मैं नहीं समझता कि क्यों किसी व्यक्ति को अच्छा बनने अर्थात् उदार, दयावान् और निःस्वर्थी बनने की कोशिश करनी चाहिए? तब किसी दुर्बल, दीन और दुखी के प्रति किसीको सहानुभूति क्यों होनी चाहिए? मृत्यु के उपरान्त जो भूत-द्रव्य है, यह भूत-द्रव्य में विलीन हो जायगा। अतएव नैतिक व्यवहार के लिए उससे क्या प्रेरणा मिल सकती है? सत्ता या सम्पति की भोग-वासना या जनता से जयजयकार कराने अथवा अपने समकक्षियों से आदर पाने की आकांक्षा—उसके सामने काम करने के लिए ये ही प्रलोभन हो सकते हैं। किन्तु ऐसे प्रलोभनों का सही या गलत मूल्यांकन से कोई सम्बन्थ नहीं रह सकता। नैतिक आदर्शों का निःसन्देह एक इतिहास है, उनका एक सामाजिक हेतु है। किन्तु जब मनुष्य अपने परम्परागत आचार-व्यवहार के सिद्धातों में ही शंका करने लगता है और अपने से पूछता है कि मैं नैतिक नियमों के अनुसार आचरण क्यों करूँ, तो भौतिकवाद के पास उसके लिए कोई जवाब नहीं मिलता। समाज-सेवा, त्याग, स्वतंत्रता, समानता और अन्य सब आदर्शों को लेकर किसीने बहुत समय बिताया हो, किन्तु बाद में यदि वह अपने से पूछने लगे कि मैं इन आदर्शों को बिलकुल ही स्वीकार क्यों करूँ और इनकी वजह से नाहक परेशानी और घाटा क्यों सहूँ तो भौतिकवादी तत्त्वज्ञान, द्वन्द्वात्मक या अन्यथा उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता मैं यह नहीं कहता कि त्तात्विक भौतिकवादियों में ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण नहीं हैं, जिन्होंने उच्च आदर्शों के लिए महान् त्याग किये हैं। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि उनका वह कार्य उनके तत्त्वज्ञान से मेल नहीं खाता।

इस संकट से मुक्त होने का एक रास्ता यह मान लेना हो सकता है कि मनुष्य एक यंत्र है, उसकी गतिविधि यथानिश्चित रहती है और उसे संकल्प-स्वातंत्र्य नहीं होता। यह मान लेने पर जरूर मार्क्स और लेनिन को दुनियाभर के शोषितों के लिए काम करने और कष्ट झेलने ही पड़ते। किन्तु मैं नहीं मानता, कट्टर से कट्टर मार्क्सवादी भी मनुष्य को एक जड़ यंत्र बनाकर रखने को कभी तैयार होगा। कौन पहले आया, यह प्रश्न नहीं है। दरअसल बात यह है कि आज सृष्टि में जितने प्रकार हैं, उनका वर्णन जड़ या चेतन के रूप में हो सकता है। मार्क्सवाद की गलती यह कल्पना कर लेनी थी कि

* "But now suddenly—around a bend of quantum mechanics—exploration of the objective field brings the theorist of the physical sciences to a most disquieting position; before him apppears an ambiguous universe where the observer and the phenomenon observed are inextricalbly commingled. So close is their confrontation that each is reflected in the other, powerless to separate or to fuse.

In this realm of indetermination, all the symbols and forumlas familiar to our experience of things vanish. Notions of energy of matter require so profound a transformation as to close their orginal meaning; energy condenses into matter, matter dematerializes into radiation. The waves associated with the propagation of light quanta need no substratum in order to propagete in space-time; they undulate neither in a fluid, nor in a solid, not yet in a gas. Only the unreal thread of analogy links to the image of a ware rippling the surface of water. They are in fact waves of probability, waves of consciousness which our thought projects afar: curvilinear variation of an abstract function."

उसका आदि-कारण कुछ भी हो, चैतन्य का ज्ञान उसी तरह हो सकता है, जैसे जड़ का। उन्हें यह नहीं सूझा कि जड़ के नियम चैतन्य के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते।

जड़ का अध्ययन एक वस्तु-आधारित अन्वेषण है, जब कि चैतन्य का अध्ययन है एक आन्तरिक अनुभूति। जड़ पदार्थ का अध्ययन यानी वस्तु-आधारित अन्वेषण, संक्षेप में विज्ञान, लाजमी तीर पर नीति-निरपेक्ष होता है। चेतन-शक्ति को जड़-पदार्थ का एक व्यवहार मात्र बताकर मार्क्सवादियों और सामान्यतया भौतिकवादियों ने नैतिकता की बुनियाद ही खतम कर दी है। इसमें शक नहीं कि वे क्रान्तिकारी नैतिक मूल्यों के बारे में बहुत बातें करते हैं, किन्तु वह "अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कैसे भी साधनों का प्रयोग किया जाय" इस प्रमेय का, एक निकृष्ट प्रयोग मात्र है। एक बार किसी व्यक्ति ने सच्चाई के साथ या यों ही अपने मन को समझा लिया कि वह क्रान्ति के पक्ष में है अथवा एक दल या जनता के पक्ष में है, तो फिर वह कुछ भी बुरे कर्म करने के लिए स्वतंत्र को जाता है।

मार्क्सवादी और भौतिकवादी ही नहीं, बल्कि वे भी, जो तात्त्विक दृष्टि से उनसे मतभेद रखते हैं, चेतन-शक्ति को विज्ञान के तरीकों से समझना चाहते हैं। इसलिए मनोविज्ञान भी नैतिक मूल्यों का कोई आधार नहीं हो सकता। विज्ञान के लिए भी चेतन-शक्ति को समझ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह एक अन्तरानुभूति की चीज है। अन्तरानुभूति अपने गुण के कारण ही भौतिक उपकरणों के द्वारा व्यक्त नहीं को जा सकती। इसलिए सारे वेदान्तियों या सूफियों और योगियों को, जिन्हें आत्मा की यथार्थता या पूर्णब्रह्म की अनुभूति थी, किसी भाषा में उसे व्यक्त करना सम्भव नहीं हुआ। जैसा कि रोजर गाडेल ने कहा है: "तत्वज्ञानी अपने तत्त्व चिन्तन में मग्न रहता है; सन्त या सूफी का जीवन ही उसका सदुपदेश होता है।"

आधुनिक विज्ञान एक ऐसे स्थल पर पहुँच गया है, जहाँ भूत-द्रव्य और चेतन-शक्ति का द्वैत इतना झीना पड़ गया है कि द्वैत मालूम ही नहीं होता। गाडेल ने अपने लेख 'समकालीन विज्ञान और योग का मुक्तिदायी अनुभव' में कहा है:

"किन्तु अब अकस्मात् क्वाण्टम मिकेनिक्स के मोड़ के आसपास वस्तु-जगत् के अन्वेषण ने भौतिक विज्ञान के तार्किकों को चिन्ताजनक स्थिति में डाल दिया है। उनके सम्मुख सृष्टि का एक अस्पष्ट और जटिल दृश्य है, जहाँ द्रष्टा और दृश्य ऐसे एकीभूत हो जाते हैं कि उन्हें अलग- अलग नहीं किया जा सकता। उनका सम्मुखीकरण इतना घनिष्ठ है कि प्रत्येक दूसरे में प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु पृथक् करण या एकीभूत होने की शक्ति उनमें नहीं है।

"सन्दिग्धता के इस क्षेत्र में अनुभव पर आधारित हमारे पूर्व के सुपरिचित सब संकेत और सूत्र लुप्त हो जाते हैं। ऊर्जा (एनर्जी) और भूत (द्रव्य) की भावनाओं में इतने गहन परिवर्तन या रूपान्तर की आवश्यकता है कि उनका मूल अर्थ ही नष्ट हो जायगा, ऊर्जा भूत (द्रव्य) में संघनित हो जाती और भूत (द्रव्य) भौतिकता से पृथक् हो विकिरण में मिल जाता है। प्रकाश क्वाण्टम के संचारण से सम्बद्ध तरंगों के कालान्तर (Space Time) में संचारण के लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं रह जाती। वे न तो किसी तरल में, न किसी ठोस में और न किसी गैस में ही तरंगित या कम्पित होते हैं। सादृश्य के अयथार्थ सूत्र ही उसे जल के तल पर लहराते हुए तरंग के प्रतिबिम्ब से बाँधकर रखते है। वास्तव में वे संभाविता के तरंग हैं, चेतना की तरंग हैं, एक अमूर्त कार्य के वक्ररेखीय परिणमन (Variation) हैं, जिन्हें हमारी चेतना या विचार-शक्ति दूर-दूर प्रक्षिप्त करती या भेजती है।*

विज्ञान इस द्वैत की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता, क्योंकि किसी बाह्य पदार्थ के अध्ययन में द्रष्टा और दृश्य भिन्न रहेंगे ही, भले वे एक-दूसरे में खूब गुँथे हुए और हिले-मिले हों। केवल अन्तिम आध्यात्मिक अनुभूति में ही यह द्वैत नष्ट होत्ता है, जब द्रष्टा एवं दृश्य एक हो जाते हैं।

मनुष्य जब सृष्टि के समष्टिरूप को समझने या उसके साथ आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयास करता है, तो नैतिक मूल्य पैदा होते हैं। इस समष्टि का जिसे अनुभव हो गया है, उसके लिए नैतिक मूल्यों के अनुसार आचरण करना उतना ही सहज और स्वाभाविक हो जाता है, जितना साँस लेना।

कुछ लोगों को राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष के सन्दर्भ में यह बात असंगत लग सकती है। मैं बड़ी नम्रता से उनके साथ अपनी असहमति प्रकट करता हूँ। सारे कारोबार—व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक या दूसरे सबका एक समष्टिरूप होना चाहिए और इस समष्टि का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए जीवन का तत्त्वज्ञान।

आवश्यकताओं की परिसीमा और समाजवाद

इससे मेरा ध्यान एकदम सामाजिक और आर्थिक पुननिर्माण के उस पहलू की ओर खिंच जाता है, जिसकी समाजवादी और साम्यवादी दोनों ने उपेक्षा की है। समाजवादी और साम्यवादी दोनों का बहुत जोर भौतिक समृद्धि, उत्पादन की उत्तरोत्तर वृद्धि और जीवन-स्तर के अधिकाधिक ऊँचा उठाने पर रहता है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की यथोचित पूर्ति होनी चाहिए। जब यह देखते हैं कि समाजवादी और साम्यवादी हमेशा गरीब और पद-दलितों की वकालत करते है, भौतिक उन्नति और सुख के ऊपर उनका जोर देना समझ में आता है। यह भी सत्य है कि भारत जैसे गरीब और पिछड़े हुए देश में सामाजिक पुनर्निर्माण का मुख्य काम ही जन-साधारण के जीवनस्तर को काफी ऊँचा उठाना है। किन्तु भौतिक समृद्धि को देवता-तुल्य बना देने और भौतिक पदार्थों की अक्षुण्ण भूख को शान्त करनेवाली जीवन-दृष्टि को प्रोत्साहित करने से न तो यहाँ काम चलेगा और न कहीं अन्यत्र ही। यदि लगातार यह भूख उनको सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शान्ति रहेगी और न एक दूसरे के बीच आपस में ही शान्ति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य ही एक अनियंत्रित स्पर्धा खड़ी हो जायगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और प्रत्येक राष्ट्र केवल दूसरे राष्ट्रों को पकड़ने को ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जने की कोशिश करेगा। इस प्रकार के असन्तुष्ट समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जाते हैं। जीवन के समस्त मूल्य 'और चाहिए', 'और चाहिए' की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायँगे। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सबको 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए', जीवन के इस एक लक्ष्य को पूर्ति में लग जाना पड़ेगा। समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व सब-के-सबको भौतिकवाद की सार्वभौमिक बाढ़ में डूब जाने का खतरा पैदा हो जायगा। मानव-जीवन में कोई अन्य सहारा, कोई सच्चा सन्तोष नहीं रहेगा; क्योंकि जितना ही अधिक किसीके पास होता है, उतनी ही अधिक उसकी भूख बढ़ती है।

मैं जानता हूँ, काफी समाजवादी हो गये हैं और आज भी हैं, जो जीवन के शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण के खतरे से परिचित हैं। फिर भी समाजवाद का खास सम्पर्क जीवन के भौतिकवादी पहलुओं से था और है। समाजवादी या मजदूर-दल और ट्रेड-यूनियन लोगों को जीवन के सन्तुलित या पूर्ण स्वरूप का शिक्षण नहीं देते। यदि समाजवादी आन्दोलन, मैं जिस मुद्दे को उठा रहा हूँ उसकी ओर ध्यान दे, तो विज्ञान, औद्योगीकरण, और सामाजिक संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, सबके बारे में उसका दृष्टिकोण कान्तिकारी हो जाय।

नैतिक जीवन और मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा समस्त मानवीय गुणों और मूल्यों के फूलने-फलने के लिए शारीरिक क्षुधाओं पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। खास तौर से समाजवादी मूल्यों के सम्बन्ध में यह बात सही है। सबके सामान्य प्रयत्न से जो अच्छी चीजें उपलब्ध हों, उन्हें एक-दूसरे के साथ बाँटकर खाने का तरीका ही समाजवादी जीवन-मार्ग है। जितनी ही स्वेच्छा और सहमति से बॉट लेने का यह काम होता है, उतना ही समाज में कम तनाव और दबाव होगा और उतना ही अधिक समाजवाद उसमें होगा। मैं समझता हूँ कि जब तक समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना नहीं सीखते, स्वेच्छा से चीजों को बाँट लेना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य होगा। समाज, निश्चय ही दो टुकड़ों में बँट जायगा: एक उन लोगों का, जो दूसरों को अनुशासित करने का प्रयत्न करते होंगे और दूसरा, बाकी बचे हुए सब लोगों का। समाज की इस प्रकार की व्यवस्था में एक प्रश्न हमेशा सामने रहता है, अनुशासित करनेवालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य करनेवालों पर राज्य कौन करेगा? साम्यवादी देशों के उदाहरण और समाजवादी सरकारों के अनुभव से यह प्रकट है कि इस नित्य प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन है। इसका एक ही हल मालूम होता है और वह यह कि ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक-से-अधिक सम्भव हो, संकुचित और सीमाबद्ध किया जाय। यह हो सकेगा, इस बात का इतमिनान दिलाने पर कि समाज का प्रत्येक सदस्य आत्मानुशासन से काम करता है, समाजवादी मूल्यों के अनुरूप आचरण करता है और दूसरी चीजों के साथ-साथ अपने साथियों के बीच स्वेच्छापूर्वक बाँट-बाँटता और सहयोग करता है।

राजनीति और लोकनीति या दलीय और अदलीय राजनीति

इससे मैं सर्वोदय और समाजवाद, दल और सत्ता से बँधी हुई राजनीति तथा दल और सत्ता से मुक्त राजनीति या राजनीति और जिसे विनोबा केवल 'लोकनीति' कहते हैं, इस समस्या की तह तक पहुँच गया।

मैंने दल और सत्ता की राजनीति से अलग होने का निश्चय इसलिए नहीं किया कि मैं उससे ऊब गया या निराश को गया था, बल्कि इसलिए किया कि मुझे यह स्पष्ट को गया था कि राजनीति से काम नहीं बनेगा। उद्देश्य तो वही पुराना समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और शान्ति की स्थापना है।

किन्तु क्या राजनीति का कोई विकल्प है? क्या राज्य के माध्यम को छोड़कर समाज को बदलने और उसके पुनर्निर्माण का और भी कोई रास्ता हो सकता है? राजनीति केवल राज्य या सत्ता का विज्ञान है।

एक विकल्प था। उसे महात्मा गांधी ने हमारे सामने रखा था। किन्तु मुझे स्वीकार करना चाहिए, यह मुझे स्पष्ट नहीं हुआ था।

स्वतंत्रता की हमारी लड़ाई के समय गांधीजी ने सशस्त्र संघर्ष का एक विकल्प दिखाया था और हमने उनका अनुकरण किया। अनुकरण इसलिए नहीं किया कि हमें उस पर पक्का विश्वास हो गया था, बल्कि इसलिए कि उनका नुसखा कारगर साबित हुआ था।

कहावत है, सफलता की तरह कोई सफल नहीं होता! गांधीजी के आन्दोलन लोगों को जाग्रत् करने और आन्दोलन में कूद पड़ने की प्रेरणा देने में, जैसा पहले कोई भी आन्दोलन नहीं कर पाया था, सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर रहे थे। सारे प्रतिस्पर्धी कार्यक्रमों और विचारधाराओं को हार मानकर पीछे हटना पड़ा था।

गांधीजी का लोक-सेवक-संघ

किन्तु गांधीजी को अवसर ही नहीं मिला कि वे समाज को बदलने और उसके पुनर्निर्माण की अपनी अहिंसक पद्धति का दर्शन करा सकते। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इस सम्बन्ध में काफी कहा और लिखा है। किन्तु इसके पूर्व कि वे इस पर अमल करते, बड़ी क्रूरता के साथ उन्हें हमारे बीच से छीन लिया गया। पीछे की ओर देखते हैं, तो अब इसमें सन्देह नहीं मालूम होता कि उन्होंने अपने भावी कार्यक्रमों की बुनियाद डालना उसी समय शुरू कर दिया था। किन्तु वे जो कुछ कर रहे थे, उसका आशय जैसा और भी बहुत-से लोगों की समझ में उस समय नहीं आया था, मैं भी समझ नहीं पाया। उदाहरण के लिए उन्होंने स्वतंत्रता के संग्राम में इतनी अद्भूत सफलता प्राप्त की, किन्तु अपने आदर्श के अनुरूप देश के पुनर्निर्माण में उपयोग करने के लिए सत्ता अपने हाथ में नहीं ली, इस घटना का अभिप्राय समझने में भी मैं बिल्कुल चूक गया। उसी प्रकार जब उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि कांग्रेस को राजनीतिक क्षेत्र से हट जाना चाहिए और अपने को जिसे उन्होंने 'लोक-सेवक-संघ' कहा था, उसमें समेट लेना चाहिए। इस अद्वितीय प्रस्ताव के तात्पर्यार्थ से फिर मैं वंचित रह गया। देश को ही उस प्रस्ताव पर शान्तिपूर्वक विचार करने का अवसर नहीं मिला। सारा देश दु:ख और क्षोभ में ऐसा डूबा हुआ था कि मुक्त-चिन्तन सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त सबकी आँखें उनकी ओर लगी थीं; जिनसे नैया के इस खेवैया की अनुपस्थिति में उसे सुरक्षित स्थान तक ले चलने की आशा थी और उनकी ओर से राष्ट्रपिता की 'अन्तिम इच्छा और वसीयत' क्या थी, इसके सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं सुनाई पड़ा। इसके भी आगे जब यह देखा गया कि गांधीजी के प्रत्येक राजनैतिक सहयोगी ने राजनीति का परम्परागत मार्ग अपना लिया है, इस बात का सन्देह तक नहीं हो सका कि गांधी-विचार में दल और सत्ता की पद्धति का कोई विकल्प भी है।

गांधीजी और दलगत राजनीति

यहाँ यह एक प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि गांधीजी के सम्बन्ध में, जिन्होंने अपना सारा जीवन राजनीति में बिताया, यह शंका ही क्यों की जाती है कि उन्हें इसके विकल्प की भाषा में सोचना चाहिए था। मेरी विनम्र राय में गांधीजी की राजनीति के जिस अर्थ का यहाँ मैं विचार कर रहा हूँ, उस अर्थ से कभी कोई वास्ता नहीं रहा। गांधीजी ने स्वतंत्रता का जो आन्दोलन चलाया, वह इसी अर्थ में राजनीतिक था कि उसका लक्ष्य भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता था; किन्तु वह किसी दल के लिए सत्ता का आन्दोलन हो, इस अर्थ में 'राजनीति' नहीं था। यदि उसका लक्ष्य सत्ता था, तो वह सत्ता पूरे भारतवर्ष की जनता के लिए थी। इसमें वे लोग भी सम्मिलित थे, जो पाकिस्तान बनाने के लिए अलग हुए और दोनों हिन्दुस्तानों में जितने दल मौजूद थे, वे और भविष्य में जो बनेंगे, वे भी सम्मिलित थे। गांधीजी किसी दल के नेता नहीं थे, जो अपने दल की सत्ता के लिए लड़ते और दाँव-पेंच खेलते। यदि ऐसा होता, तो उनके मन, में कांग्रेस को सत्तावादी राजनीति छोड़ने

की बात कहने का कभी विचार ही न आता। वे एक राष्ट्रीय नेता थे, अपने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे; न केवल इतना, वे मानवता के एक विश्व-नेता थे और अपने सजातीय मानवमात्र की बन्धन-मुक्ति के लिए कार्य कर रहे थे। भारतीय स्वतंत्रता का आन्दोलन एक सर्वोत्तम जन-आन्दोलन था। यह राजनीति यानी राज्य की राजनीति नहीं थी, बल्कि लोक-नीति यानी जनता की राजनीति थी।

दलीय पद्धति

जो भी हो, राजनीति ने जो प्रश्न पैदा किये, वे मेरे दिमाग में गूँजते रहे। मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ और एक विकल्प खोजने के लिए विवश हो गया। दलीय राजनीति का परम्परागत स्वभाव है, सत्ता के लिए उसमें सब तरह से निर्बल और दूषित कर देनेवाले संघर्ष होते ही हैं; यहीं बात मुझे और अधिक चिन्तित करने लगी। मैंने देखाः धन, संगठन और प्रचार के साधनों के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लाद देते हैं; कैसे जन-तंत्र यथार्थ में दलीय तंत्र बन जाता है; कैसे दलीय तंत्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव-समितियों और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है; किस प्रकार जन-तंत्र केवल मतदान में सिमट और सिकुड़कर रह जाता है; किस प्रकार मत देने का यह अधिकार तक, उन शक्तिशाली दलों के द्वारा अपना उम्मीदवार खड़ा करने की पद्धति के कारण, बुरी तरह सीमित हो जाता है, क्योंकि काम चलाने के लिए मतदाताओं को केवल उन्हींमें से किसीको चुनना पड़ता है; किस प्रकार यह सीमित निर्वाचनाधिकार तक अवास्तविक हो जाता है, क्योंकि निर्वाचक-गण के समक्ष जो मुद्दे रखे जाते हैं, वे वहुत अधिक तो उनकी समझ के बाहर होते हैं।

दलीय पद्धति को जैसा मैंने देखा, यह लोगों को डरपोक और नपुंसक बना रही थी। इसने इस तरह से काम नहीं किया कि जनता की शाक्ति और अभिक्रम (इनीशियेटिय) बढ़ें या उन्हें स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने-आप सँभालने में सहायता मिले। दलों को तो केवल इससे मतलब था कि सत्ता उनके हाथ में आये और वे जनता के ऊपर, बिना शक जनता की सलाह से, राज्य कर सकें। मैंने ऐसा अनुभव किया कि दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गड़ेरियों को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे। मुझे इसमें स्वतंत्रता का दर्शन नहीं हुआ, उस स्वतंत्रता या स्वराज्य का, जिसके लिए मैं लड़ा था और इस देश के लोग जिसके लिए लड़े थे।

सत्ता का नीचे से विकेन्द्रीकरण

अवश्य ही जनतांत्रिक समाजवादियों में सत्ता के विकेन्दीकरण, चौखम्बा-राज्य तथा इसी प्रकार की अन्य धारणाओं के सम्बन्ध में अस्पष्ट चर्चाएँ होती थीं। किन्तु अमल में मैंने देखा, उनका एकमात्र ध्येय, जैसा अब भी है, सत्ता पर कब्जा करना था। लगता है, उनका विश्वास था कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी पहले सत्ता के वर्तमान केद्रों को जीतकर अपने कब्जे में कर लेने के उपरान्त ही संभव होगा; क्योंकि उस समय विकेन्द्रीकरण और संस्था-विघटन कानून बनाकर हो सकता है। वे इस प्रक्रिया की निरर्थकता को नहीं देखते। ऊपर से लोगों के हाथ में सत्ता बाँटकर विकेन्द्रीकरण नहीं किया जा सकता, खास तौर से जब लोग राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल कुचल दिये गये हों और दल-प्रथा तथा चोटी पर सत्ता के केन्द्रित होने के कारण स्व-शासन को जिनकी शक्ति, यदि नष्ट नहीं, तो सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दी गयी हो। आज विधानसभा में बने हुए नियमों के अनुसार ग्राम-पंचायतों का संगठन हो रहा है। ये सच्ची पंचायतें नहीं हैं। गांधीजी जिसे 'ग्रामराज्य' कहते थे, वह ये नहीं हैं। गांधीजी के सारगर्भित शब्दों में "पंचायत अपने ही बनाये हुए कानूनों के अनुसार काम कर सकती है।" समाज के जीवन को आत्मनियंत्रित रखने की यह शक्ति पैदा की जानी चाहिए विकेन्द्रीकरण के नाम पर ऊपर से बख्शी नहीं जानी चाहिए। इसकी प्रक्रिया नीचे से शुरू होनी चाहिए। स्वराज्य और आत्म-व्यवस्था के कार्यक्रम जनता के सामने रखे जायँ और विधायक और अदलीय दृष्टि से उनकी सहायता की जाय, ताकि वे उन्हें व्यवहार में ला सकें। अब यह स्पष्ट हो गया कि गांधीजी राष्ट्रीय पैमाने पर इस कार्यक्रम को चलाने को दृष्टि से ही कांग्रेस को एक अदलीय लोक-सेवक-संघ में परिवर्तित करने की बात सोच रहे थे। बिल्कुल यही काम विनोबाजी कर रहे हैं। स्वाभाविक है, उस दौड़ में गांधीजी जितना आगे बढ़ सकते थे, विनोबाजी नहीं बढ़ सके। किन्तु छह वर्ष की अल्प अवधि में उन्होंने सफलतापूर्वक नीचे से सामाजिक क्रान्ति और सामाजिक पुनर्निर्माण का आन्दोलन खड़ा कर दिया; साथ ही इस आन्दोलन में मदद करने के लिए लोक-सेवकों का

एक नया दल तैयार कर लिया, यह एक अद्‌भुत घटना है।

सहयोगी राजनीति

दल-प्रथा के दोषों और असफलताओं से छुटकारा पाने के लिए मैं कुछ दिनों तक प्रतिस्पर्धी के स्थान में सहयोगी दल-प्रथा की कल्पना में मग्न रहा। आखिरकार मैंने यह देखा कि अव्वल तो ऐसे राजनीतिक प्रयोग के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है। दूसरे, सत्ता के लिए संघर्ष और वर्तमान संसदीय गणतंत्र-प्रणाली के प्रस्तुत ढाँचे के रहते हुए सिवा किसी विशेष निमित्त और विशेष अवसर के यह प्रयोग सफल नहीं हो सकता। फिर भी मेरा विश्वास है कि यदि इसके लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो जाय, तो इस प्रकार का राजनीतिक प्रयोग आज भी किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए आज के ढाँचे को संसदीय गणतंत्र से भिन्न किसी दूसरे रूप में बदलना ही पड़ेगा। जो भी हो, दल-प्रथा से मेरी विरक्ति मुझे बराबर उसके किसी अच्छे पर्याय को खोजने के लिए विवश कर रही थी। जनता के स्वशासन की ओर गांधीजी की जो निर्दलीय विधायक दृष्टि थी, उसमें अन्वेषण का एक आशाजनक मार्ग दिखलाई दिया।

राज्य का स्थान

राजनीति के सम्बन्ध में जो शंकाएँ थीं, वे चूँकि दल-प्रथा तक ही सीमित नहीं थीं, मेरे मन में कुछ बुनियादी प्रश्न उठे। खास तौर से सामाजिक जीवन के जो लक्ष्य मेरे पूर्व ही स्थापित हो चुके थे, उनको ध्यान में रखते हुए मैं सोचने लगा कि मानव-समाज में राज्य का स्थान और कार्य क्या होगा? कदाचित् सत्ताहीन समाज के आदर्श से युक्त मार्क्सवाद के मेरे अध्ययन ने इन प्रश्नों को अधिक तीव्र और कष्टकारक बना दिया। यद्यपि मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को मैंने छोड़ दिया था, क्योंकि उनसे मुझे अपने लक्ष्य तक पहुँचने की आशा नहीं थी। मैं यह जरूर दृढ़ता के साथ मानता रहा कि मानव-स्वतंत्रता को पूरी और सम्पूर्ण अनुभूति केवल सत्ताहीन समाज में ही को सकती है, मुझे न यकीन था और न है कि राज्य-व्यवस्था कभी भी पूर्ण रूप में खतम हो सकती है। किन्तु मुझे यकीन है, लोगों को यह विश्वास करा देना कि 'राज्य की सत्ता, व्यवहार और क्षेत्र को जहाँ तक संभव हो सकता था, संकुचित और सीमित कर दिया गया है', एक अति उच्च लक्ष्य है, जिसकी सिद्धि के लिए समाज को प्रयत्न करना चाहिए। इस समय गांधीजी के इस सूत्र-वाक्य में मेरा पक्का विश्वास हो गया था और आज भी है कि "वहीं सरकार सर्वोत्तम होती है, जो न्यूनतम शासन करती है।" मनुष्य जब बिना किसी प्रकार के बाह्य दबाव या अंकुश के अपने साथियों में बन्धुत्व, न्याय और सहयोग के साथ रहने योग्य हो जायगा, मैं समझूँगा कि उसका विकास हो गया है। मैंने मनुष्य के विकास की कसौटी 'बिना किसी प्रकार का बाह्य दबाव या अंकुश के अपने साथियों के बीच बन्धुत्व, न्याय और सहयोग की भावना से उसके रह सकने की योग्यता' को माना है। यहीं कारण है कि मैंने मनुष्य और समाज की समस्या को मूलतः एक नैतिक समस्या माना है।

मेरे चिन्तन के पीछे समाज में राज्य के स्थान और कार्यक्षेत्र की जो कल्पना रही है, उससे आप यह समझ सकते हैं कि मैं राज्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को कितनी गहरी आशंका और भय की दृष्टि से देखता रहा हूँ। गणतांत्रिक समाजवादी, साम्यवादी तथा कल्याणवादी, फासिस्टों की तो कहें ही क्या, सब-के-सब राज्यवादी हैं। वे सब पहले हाथ में सत्ता लेकर और तत्पश्चात् राज्य के अधिकारों और कार्यक्षेत्रों में वृद्धि करके अपने ही ढंग का सत्ययुग निर्माण करना चाहते हैं।

बुर्जुआ राज्य का राजनीतिक सत्ता पर अधिकार था। समाजवादी राज्य में उसके साथ आर्थिक एकाधिकार के जुड़ने का भय रहता है। सत्ता के इतने बड़े केन्द्रीकरण को नियंत्रित और संयमित रखने के लिए उसमें अधिक भी नहीं, तो उतनी शक्ति तो चाहिए ही। समाजवादी समाज में इस प्रकार की कोई शक्ति समीप नहीं रहेगी। कागजी संविधानों से नागरिकों की स्वतंत्रता और प्रभुता के आश्वासन की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आर्थिक और राजनीतिक अफसरशाही इतनी शक्तिशाली हो जायगी और इतने महत्त्वपूर्ण स्थान उसके हाथ में होंगे कि जनता की स्वतंत्रता और स्वाधिकार के साथ ही उसकी रोजी-रोटी भी सर्वथा उसकी दया पर निर्भर करेगी।

मैं जानता हूँ कि गणतांत्रिक समाजवादी इन खतरों से परिचित हैं और वे इन्हें संयमित और सन्तुलित रखने के

* हेराल्ड कैम्पवल के द्वारा जुलाई सन् 1957 के सोशलिस्ट कमेंटरी में उद्धृत।

उपाय खोज रहे हैं। स्वतंत्र ट्रेड-यूनियनों को आजादी का एक बड़ा किला समझा जाता है, यद्यपि यह सर्वविदित है कि बड़े ट्रेड-यूनियन भी स्वत: नौकरशाही से लदे हुए हैं। औद्योगिक गणतंत्र और सरकारी उद्योगों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की योजनाएँ बनी हैं। उपभोक्ता-संघ और सब प्रकार की सहकारी-समितियाँ सचमुच सन्तुलन और संयम कायम करने के साधन समझे जाते हैं। समाजवादी विचारधारा में आगे चलकर तो शक्ति और कार्यक्षेत्र के विकेन्द्रीकरण का भी समावेश को गया है। किन्तु यह सब कुछ कहने-सुनने के बाद भी गणतांत्रिक समाजवादी राज्य आखिर एक दैत्य जैसा ही है, जो जनता की स्वतंत्रताओं के उपर जमकर सवार हो जायगा।

जनता का समाजवाद बनाम राज्य का समाजवाद

जहाँ तक मैं सोच सकता था, इससे मुक्त होने का केवल एक ही उपाय मिला और वह मुझे राजनीति से और भी दूर खींचकर सर्वोदय की ओर ले आया। जैसा आन्तर और बाह्य अनुशासन के प्रसंग में ऊपर मैंने कहा है, जाहिर तरीका यह है कि जहाँ तक व्यावहारिक हो सके, जनता के लिए राज्य के बिना काम चलाना और अपनी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप में अपने-आप करना सम्भव बनाया जाय। समाजवाद को भाषा में बोलना हो, तो मैं इस प्रकार कहूँगा, वह तरीका यह है कि राज्यसत्ता का इस्तेमाल करके समाजवाद कायम करने के बजाय जनता के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन के स्वरूपों की सृष्टि और विकास किया जाय । दूसरे शब्दों में उपाय यह है कि राज्यवादी समाजवाद के स्थान पर जनता का समाजवाद कायम किया जाय। सर्वोदय जनता का समाजवाद है। प्रत्येक समाजवादी सर्वोदय से सहमत हो या न हो, इतना उसे मानना चाहिए कि 'जितना ही जनता का अथवा स्वैच्छिक समाजवाद अधिक होगा और राज्य से लादा हुआ समाजवाद कम होगा, उतना ही अधिक पूर्ण और यथार्थ समाजवाद बनेगा।' दुर्भाग्य से बहुत ही कम समाजवादी हैं, जो जनता के समाजवाद की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। बरतानिया के समाजवादियों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए, श्री जैक बेली, बरतानिया के को-ऑपरेटिव नेता ने कहा है: "बरतानिया में अधिकांश समाजवादियों का ध्यान राजसत्ता पर अधिकार करके उसका उपयोग करने की ओर इतना अधिक केन्द्रित हो गया है कि उन्हें समाजवाद के अशासकीय रूपों की सार्थकता दिखलाई ही नहीं पड़ती।" *बरतानिया की-सी ही स्थिति सारे विश्व की है। समाजवाद के अशासकीय रूपों को खड़ा करने की दृष्टि से यह बात स्पष्ट है कि किसी को भी दल बनाकर काम करने या सत्ता पर अधिकार जमाने के लिए संघर्ष में भाग लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस संदर्भ में दल और सत्ता दोनों आवश्यक हो जाते हैं। जरूरत है, नि:स्वार्थ काम करनेवाले लोगों के दल की, जो जनता के बीच रहकर काम करने के लिए तैयार हों और जो स्वावलम्बन और स्वशासन के आधार पर उनके जीवन का पुनर्गठन करने में जनता की सहायता कर सके। इस प्रसंग में बरबस गांधीजी के लोक-सेवक-संघ का फिर से स्मरण हो जाता है।

भावी समाज

अब प्रश्न यह आता है कि उस समाज का रूप क्या होगा, जिसमें जनता के लिए अपने सामाजिक जीवन का स्वयं-संचालन करना और जीवन के उन समस्त मूल्यों का विकास करना सम्भव होगा, जो सहकार, आत्मानुशासन, उत्तरदायित्व की भावना आदि के रूप में समाजवादी समाज की विशेषताएँ हैं। यह ऐसा प्रश्न है, जिसकी ओर समाजवादियों ने अब तक कम-से-कम ध्यान दिया है। मानव-समाज कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएँ ही निकली हैं। इनमें शहर कहलानेवाले मनुष्यों के बड़े-बड़े जंगल हैं, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध सर्वथा अवैयक्तिक और निष्प्राण हैं, कार्य-प्रणाली कष्टसाध्य और आनन्द एवं सृजन-शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित है और केवल उत्पादन-शक्ति और कार्यक्षमता के आधार पर ही मान्यता मिलती है। विज्ञान ने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है। किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है कि पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं। इस प्रकार का पेचीदा और उपर से बोझिल समाज अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंकशास्त्रियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार का समाज एक घर नहीं बन सकता, जहाँ भाई भी भाई-भाई की तरह एक साथ रह सकें।

समाजवादियों ने विज्ञान, उत्पादन, कार्यक्षमता, जीवन-स्तर तथा ऊँचे-ऊँचे आदर्शवाले दल के नारों के नाम पर समाज के इस भस्मासुर को बिल्कुल ज्यों-का-त्यों ले लिया है और अब वे आशा करते हैं कि इसमें सार्वजनिक स्वामित्व

या जनता की मालिकी जोड़कर इसे समाजवादी बनायेंगे। मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि इस प्रकार के समाज में समाजवाद साँस भी नहीं ले सकता। यदि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे, तो स्व-शासन, स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, इन सबका प्रयोग और विकास बेहतरी के लिए हो सकता है। पश्चिम में भी दूर-दृष्टिवाले विचारकों को अब ऐसा लगने लगा है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति और संस्कृति दोनों की उपज है। इसलिए उसके सन्तुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के बीच मधुर समरसता पैदा की जाय। लेकिन पार्कों और हरे-भरे मार्गों के बीच होते हुए भी लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, मास्को जैसे आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में इस प्रकार की समरसता कायम करना सम्भव नहीं। इसीका परिणाम है कि अधुनिक मनुष्य का विकास विकृत और एकांगी हो गया है। प्रकृति और संस्कृति का सरस सम्मिश्रण अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समुदायों में ही सम्भव हो सकता है। एलडेस हक्सले की 'साइंस लिबर्टी एण्ड पीस' में आता है: "अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की कौन कहे, तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक उसको काफी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और एक स्वशासित दल के रूप में एक-दूसरे के प्रति और पूरे दल के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न हो, 2. उसके कार्य में एक खास सौन्दर्य की भावना और मानवीय गौरव न हो और जब तक 3. अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ उसका सेन्द्रिय और गहरा
अन्योन्याश्रय सम्बन्ध न हो।"

इन्हीं कारणों से गांधीजी इतना जोर देकर कहते थे कि भारतीय ग्राम और ग्राम-स्वराज्य (ग्रामराज) ही उनके भावी समाज की बुनियाद हैं। भाइयों की तरह शान्तिपूर्वक रहनेवाले स्वतंत्र और समान व्यक्तियों के समाज से ही यहाँ गांधीजी का अभिप्राय है।

विज्ञान और लधु-उत्पादन

छोटी-छोटी बस्तियों में रहने और अधिकांश अपने लिए या स्थानिक उपयोग के लिए छोटे-छोटे यंत्रों पर उत्पादन करने को लोग विज्ञान की सूई को पीछे घसीटना कह सकते हैं। लोग समझते हैं, विज्ञान एवं बड़े पैमाने पर केन्द्रित उत्पादन और मनुष्यों की घनी-घनी बस्तियाँ अनिवार्य रूप से साथ-साथ रहेंगी। इससे अधिक बेमानी बात और क्या हो सकती है? विज्ञान दो तरह का है : 1. शुद्ध विज्ञान, 2. उपयोगी विज्ञान। मैं केवल शुद्ध विज्ञान को ही विज्ञान कहूँगा, दूसरा तो यंत्र-कला है। फिर विज्ञान का उपयोग स्वत: विज्ञान पर निर्भर नहीं करता, बल्कि समाज की प्रवृत्ति और गठन पर निर्भर करता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना रुपया कमानेवालों के लिए लाभदायक था, इसलिए यंत्र-कला ने उस विशिष्ट प्रकार के उत्पादन का मार्ग अपनाया। समाज में पैसा कमानेवाले पूँजीपतियों का प्रभाव था, इसलिए उनके मन की बात होने ही वाली थी। सरकारों ने भी अपने आदर्शों की चिंता न करते हुए केन्द्रित और बड़े पैमाने पर उत्पादन को पसन्द किया। क्योंकि युद्ध करने के लिए अथवा आप चाहें, तो संरक्षण के लिए भी कह सकते हैं, उसकी आवश्यकता थी। इसलिए भी उसका महत्त्व था कि उसके द्वारा सारी आर्थिक और इसलिए राजनीतिक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी। इस प्रकार सरकारों और मुनाफाखोरी ने मिलकर आधुनिक समाज के भस्मासुर को पैदा किया है। बेचारे विज्ञान का इस मामले में कोई हाथ नहीं था। इतना ही नहीं, वैज्ञानिकों का बस चलता, तो वे उत्पादन और विनाश के बहुत से इंजनों को, जिनके निर्माण में उनके अनुसन्धान से सहायता मिली है, चकनाचूर करके प्रसन्न होते। किन्तु समाज ने यदि सत्ता, मुनाफा और युद्ध के लक्ष्यों को न अपनाकर शान्ति, सद्भावना, सहकार, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लक्ष्यों को अपनाया होता, तो निश्चित ही यंत्र-कला का तदनुरूप विकास करने में विज्ञान का उतना ही उपयोग हुआ होता। वह विज्ञान की अवनति नहीं कहीं जाती, बल्कि विनाश के बदले निर्माण की दिशा में उसकी प्रगति ही कहीं जाती। यह बता देना चाहिए कि आणविक शक्ति ने उत्पादन के व्यापक वितरण और लधु-उद्योगों के विकास को पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव कर दिया है। इस प्रसंग में पुन: 'हक्सले' के शब्द रखता हूँ:

"मेरा व्यक्तिगत विचार है, जो दरअसल विकेन्द्रीकरण के समस्त समर्थकों का विचार है, कि जब तक शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों का उपयोग बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण करनेवाली उद्योग-व्यवस्था को महँगे मूल्य पर अधिक विस्तृत और अधिकाधिक विशिष्ट बनाने में होता रहेगा, सत्ता का निरन्तर थोडे-से-थोड़े हाथों में अधिकाधिक केन्द्रीकरण होने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के इस केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप जनता निरन्तर

अपनी नागरिक स्वतंत्रता, अपनी व्यक्तिगत स्वाश्रयता और स्वशासन के अपने अवसर खोती रहेगी। किन्तु हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि निर्लित्त वैज्ञानिक अनुसन्धान अपने में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, उद्योग और सत्ता के लाभ के लिए अपने उपयोग को अनिवार्य बनाती हो। यदि आविष्कारक और यंत्रज्ञ लोग चाहें, तो शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों को स्वतंत्र रूप से या सहकारी-मंडलों में काम करनेवाले छोटे-छोटे कारोबार के मालिकों के आर्थिक स्वावलम्बन और इसलिए राजनीतिक स्वातंत्र्य को बढ़ाने के कामों में भी उतनी ही उपयोगिता के साथ इस्तेमाल कर सकते हैं। ये छोटे धन्धेवाले भले ही बड़े पैमाने पर वितरण के लिए नहीं; बल्कि अपने योगक्षेम और स्थानिक बाजार को खपत के लिए ही क्यों न उत्पादन करते हों। विश्राम-दिवस (बाइबिल के अनुसार रविवार धार्मिक विश्राम का दिन माना जाता है) मनुष्य के लिए बनाया गया था, मनुष्य विश्राम-दिवस के लिए नहीं, यहीं बात उपयोगी विज्ञान के सम्बन्ध में है।"

छोटी बस्तियाँ और बृहत् समाज

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि इस नये समाज का पूर्ण चित्र स्पष्ट रूप से किसीके सामने है या उसकी समस्त समस्याओं पर विचार हो चुका है और उनका हल ढूँढ़ लिया गया है। उदाहरण के तौर पर, क्या ये छोटी-छोटी स्वाश्रयी और स्वशासित बस्तियाँ आपस में एक-दूसरे से सम्बद्ध रहेंगी, यह एक बड़ा सवाल तुरन्त मेरे मन में उठता है। हाँ, इस सम्बन्ध में गांधीजी की महान कल्पना हमारे समक्ष है:

"असंख्य देहातों से संयुक्त इस ढाँचे में निरन्तर फैलाववाले वर्तुल होंगे, चढ़ाववाले कभी नहीं। जीवन एक शुण्डाकार स्तम्भ की तरह नहीं होगा, जिसमें चोटी का भार तली पर रहता है। यह एक समुद्रीय वर्तुल जैसा होगा, जिसका केन्द्र-बिन्दु होगा व्यक्ति। जिस प्रकार तालाब में ढेला मारने पर पहले एक गड्ढा बनता है, फिर क्रमशः एक के बाद दूसरी वर्तुलाकार तरंगें उठती हैं और अन्त में सारा तालाब तरंगित हो जाता है, उसी प्रकार यह व्यक्ति सदैव ग्राम में विलीन होने को तैयार रहेगा, ग्राम दूसरे ग्राम-मण्डल में, जब तक कि अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि, व्यक्तियों से निर्मित एक जीवन नहीं बन जाता। ये व्यक्ति अपनी उद्दंडता से कभी आक्रमणकारी नहीं होंगे; बल्कि समुद्रीय वर्तुल की तरह जो असंख्य गाँव फैले हुए हैं, जिनकी वे स्वयं अविभाज्य इकाइयाँ हैं, उनकी समृद्धि और गौरव का बड़ी नम्रता के साथ हिल-मिलकर उपयोग करेंगे।"

गांधीजी के शब्द हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं, किन्तु उस चित्र को और अधिक स्पष्ट करने के लिए काफी चिन्तन और अनुभव की आवश्यकता होगी। फिर भी एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। यद्यपि यह बात निश्चित है कि छोटी-छोटी बस्तियों में व्यक्तिगत सम्बन्धों को अवकाश और प्रोत्साहन देते हुए जो जीवन बनेगा, वह सर्वोदय के आदर्शों की स्थापना के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल होगा। फिर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल आकार में छोटे होने के कारण ही छोटी-छोटी बस्तियाँ सर्वोदय-बस्तियाँ हो जायेंगी। यदि ऐसा होता, तो आज भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में हमें सर्वोदय का साक्षात्कार हुआ होता। जीवन के बाह्य रूपों का तभी कुछ महत्त्व होता है, जब अन्दर भी कोई तथ्य होता है। लोगों को पहले जीवन की सर्वोदय-दृष्टि को समझ लेना चाहिए और स्वीकार कर लेना चाहिए; तभी कैसे वातावरण और कैसे सामाजिक ढाँचे में वे उस जीवन को सबसे अच्छी तरह बिता सकते हैं, इसकी खोज की जा सकती है।

प्राय: यह आशंका व्यक्त की जाती है कि स्वाश्रयी और स्वशासित बस्तियाँ एक-दूसरे से मिलकर रहेंगी और राष्ट्र की एकता और स्थिरता टिक सकेगी। सर्वोदय विश्व-समाज में वर्तमान राष्ट्रों के क्रम से वने हुए राज्यों का कोई स्थान नहीं होगा। सर्वोदय-दृष्टि विश्व-दृष्टि है और गांधीजी के समुद्रीय वर्तुल के केन्द्र में खड़ा हुआ व्यक्ति विश्व-नागरिक है। किन्तु फिलहाल सर्वोदय के विश्वरूप को हम छोड़ दें। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि स्वशासित छोटी-छोटी एक-दूसरे के प्रति शत्रुता का भाव रखेंगी या अपने, एक-दूसरे के साथ, सम्बन्ध में पृथक्तावादी या स्वार्थी हो जायँगी। यदि किसी बस्ती का अन्तर-जीवन ठोस बुनियाद पर आधारित है, तो उसका बाह्य जीवन भी उतना ही ठोस होकर रहेगा।

5. सर्वोदय का गति-शास्त्र

गांधीजी के जीवन-काल में, जैसा मैंने ऊपर बतलाया है, बराबर उनकी ओर खिंचते आते हुए भी मैं पूरी तरह से नहीं समझ सका था कि इस अहिंसक पद्धति से सामाजिक क्रान्ति कैसे होगी। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय उस पद्धति ने कैसा काम किया था, यह मुझे मालूम था। किन्तु उन्हीं साधनों से सामन्तवाद और पूँजीवाद कैसे नष्ट होंगे और नये समाज का निर्माण कैसे होगा, यह चीज मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आयी थी। मैंने हृदय परिवर्तन के द्वारा क्रान्ति पर गांधीजी के लेख अवश्य पढ़े थे। किन्तु प्रत्यक्ष प्रदर्शन या व्यवहार के अभाव में वे विचार मुझे अत्यन्त अव्यावहारिक लगे। अपने मार्क्सवादी दिनों में मैंने उनके ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की थी और यद्यपि गांधीजी के जीवन के अन्तिम समय तक मैं मार्क्सवाद से काफी दूर हट आया था, तथापि मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि ट्रस्टीशिप वैयक्तिक व्यवहार से भिन्न सामाजिक व्यवहार का आदर्श भी हो सकती है। जैसा मैंने ऊपर बताया है, स्वतंत्रता-प्राप्ति के तुरन्त बाद ही गांधीजी अपने अद्भुत आन्दोलन के दूसरे और बृहत्तर पहलू को अमल में लाने के लिए किसी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम की अपने मन में योजना कर रहे थे। जिस कांग्रेस-संगठन को उन्होंने आजादी की अहिंसक सेना के रूप में खड़ा किया था, उसी कांग्रेस को लोक-सेवक-संघ के रूप में परिवर्तित करने का उनका प्रस्ताव निःसन्देह उनकी प्रतिभा का एक रोमांचकारी उदाहरण है। किन्तु जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, मैं इसके महत्त्व को बिल्कुल समझ ही नहीं पाया। गणतांत्रिक परिस्थितियों में हिंसा के प्रयोग को क्रान्ति-विरोधी कहकर मैंने पहले अस्वीकार कर दिया था, इसलिए अब मेरे मामने सामाजिक क्रान्ति के केवल रूढ़िगत समाजवादी तरीके बाकी थे। इन तरीकों में जो खामियाँ थीं और उनके प्रयोग से जो निराशाजनक परिणाम निकले थे, जिनमें से कुछ की चर्चा मैं कर चुका हूँ, उन्होंने मुझे सशंक कर दिया।

भूदान का जन्म

जिन दिनों मेरे मन में यह ऊहापोह चल रहा था, एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घटी। तेलंगाना के एक सुदूर देहात में भूदान का जन्म हुआ था। इस घटना के प्रति मेरी पहली प्रतिक्रिया पुराने ढंग की थी। मैंने सोचा, देशभर की सारी जमीनों के पुनर्वितरण में इस प्रकार सैकड़ों वर्ष लगेंगे। किन्तु इस घटना से सम्बद्ध दो ऐसी बातें थीं, जिनके कारण मेरा ध्यान उस ओर गया और मैं गम्भीरतापूर्वक उस पर विचार करने के लिए मजबूर हो गया। एक तो स्वयं भूदान के प्रणेता थे। मैं विनोबाजी को वर्षों से जानता था और जब कभी मुझे वर्धा जाने का अवसर मिलता था, मैं खास तौर से उनसे मिलने जाया करता था। मुझे उनमें सदैव असाधारण मौलिकता और प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति मिली। उनकी कुछ रचनाओं में, जिनको मैंने पढ़ा था, अत्यन्त स्फूर्तिदायी ताजगी थी। मुझे याद आया, सन् 1940 में गांधीजी ने उन्हें किस प्रकार पहला सत्याग्रही चुना था। मुझे फिर याद आया, गांधीजी के निधन के बाद वर्धा में जो गांधी-विचारवाले विधायक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं का प्रथम सम्मेलन बुलाया गया था, उसमें उन्होंने कैसा स्पष्ट मार्गदर्शन किया था। मैंने सोचा, जब विनोबा जैसे व्यक्ति ने कुछ शुरू किया है, तो केवल एक शिगूफा या दिखावे की चीज कहकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरी बात थी, आन्दोलन का उत्तरोत्तर विकास। यह देखा गया कि जब कभी और जहाँ कहीं कुछ सच्चे कार्यकर्ताओं ने इस काम को उठा लिया, इसके अच्छे परिणाम निकले। तरीका भी अव्यावहारिक नहीं था। ऐसा लगा, यदि जितनी शक्ति सामान्य राजनीतिक आन्दोलनों में लगती है, उतनी शक्ति इसके पीछे लगायी जाय, तो इसके परिणाम अधिक ठोस और शीघ्रगामी होंगे।

लगभग इसी समय पुराने समाजवादी दल ने निश्चय किया था कि यह जमीनों के पुनर्वितरण के प्रश्न पर विशेष ध्यान देगा; क्योंकि यह इस देश के सामने उपस्थित आर्थिक सुधार का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न समझता है। इस विषय पर मेरे द्वारा पेश किये हुए एक प्रस्ताव में दल के पचमढ़ी-सम्मेलन में भूदान का स्वागत करते हुए और समर्थन का आश्वासन देते हुए संक्षेप में उसकी चर्चा हुई थी। कुछ समय के बाद मैं जमीनों के पुनर्वितरण के प्रश्न पर चर्चा करने के लिए विनोबाजी से मिलने गया। वे उस समय उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में थे। मैंने देखा, इस प्रश्न पर वे गम्भीरता से चिन्तन कर रहे हैं और उनका आर्थिक दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर क्रान्तिकारी था। मैंने विनोबा के आन्दोलन में शामिल होने का निश्चय कर लिया। लेकिन मेरा तीन सप्ताह का उपवास निकट आ गया था, उसे पूरा किया और तब बिहार के गया जिले में भूदान की गंगा में

कूद पड़ा। मेरा थोड़ा-सा अनुभव ही आशातीत रूप में स्फूर्तिदायक मालूम पड़ा। एक सप्ताह के अन्दर ही सात हजार एकड़ जमीन सभा के समय घोषित दानों में प्राप्त हुई। इनमें से अधिकांश दान छोटे किसानों के थे और स्वेच्छा से प्राप्त हुए थे।

जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता गया, उसके नये-नये स्वरूप प्रकट होते गये। सन् 1952 में ही उसका एक पहलू आमने आ गया था, जो असाधारण रूप से आकर्षक था। उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले में 'मंगरठ' नामक ग्राम का ग्रामदान घोषित हो चुका था। विनोबाजी में शब्द-सृष्टि करने और पुराने शब्दों में नये अर्थ भरने की अद्‌भुत प्रतिभा है। इस प्रकार उनकी शब्दावली में दान का अर्थ बखशिश नहीं है, बल्कि 'आपस में बाँटना' है। वह शंकर की 'दानम् समविभागः' इस व्याख्या का उनका अपना भाष्य है। ग्रामदान, गाँव की जमीनों का गाँव के लोगों द्वारा आपस में निष्पक्ष बँटवारा था। भूदान का अर्थ है, भूमिहीनों में भूमि का वितरण, जब कि ग्रामदान का अर्थ होता है जमीन का ग्रामीकरण, जमीन पर व्यक्तिगत मालिकी के स्थान में ग्रामसंस्था की मालिकी। यह प्रमाणित हो गया कि भूदान में सम्पूर्ण भू-क्रान्ति के बीज निहित हैं।

और कितनी सुन्दर क्रान्ति! दूसरी सब क्रान्तियों से कितनी भिन्न क्रान्ति! भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का (जमींदारी और किसानों की मिल्कियत सहित) दूसरे देशों में दूसरे तरीकों से उन्मूलन किया गया है। जैसे, कानून के जोर से अथवा प्रत्यक्ष स्थूल हिंसा के द्वारा। इन 'क्रान्तियों' के सामाजिक परिणाम समान रूप से असन्तोषजनक रहे हैं। जैसे, इनके फलस्वरूप कटुता और घृणा फैली, दारिद्रय और अत्याचार बढ़े, कृषि के क्षेत्र में अफसरशाही की वृद्धि और स्वतंत्र कृषकों को खेतिहर मजदूर और कर्मियों के रूप में अवनति हुई, सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ और तानाशाही की स्थापना हुई। ग्रामदान की सुन्दर क्रान्ति में स्वामित्व का उन्मूलन किसी प्रकार के दबाव से नहीं किया गया, बल्कि स्वेच्छा से लोगों ने उसे गाँव को अर्पण कर दिया। बाह्य सामाजिक परिवर्तन के साथ ही साथ आन्तरिक मानवीय परिवर्तन भी हो गया। गांधीजी जिसे दुहरी क्रान्ति कहते थे, यह उसका एक उदाहरण था। सामाजिक तनाव, संघर्ष और अत्याचारों के बदले स्वतंत्रता, पारस्परिक सद्‌भावना और मेल-मुहब्बत आये, जिनके कारण स्वेच्छा से इतनी अपूर्व सामूहिक प्रेरणा और सामूहिक प्रयास की निष्पत्ति सम्भव हो सकी । अप्रासंगिक रूप में यह कहा जा सकता है कि मंगरौठ में खाद्यान्न की उपज चार वर्ष से कुछ अधिक समय में तिगुनी हो गयी है।

प्रथम ग्रामदान

मंगरौठ के ग्रामदान घोषित होने के कुछ बाद ही वहाँ जो कुछ हुआ, उसे अपनी आँखों देखने के लिए मैंने उस गाँव का एक विशेष दौरा किया। मैंने जो कुछ देखा, उसमें भविष्य की एक सुन्दर झाँकी थी। इस कल्पना से ही रोमांच को जाता है कि यदि प्रत्येक ग्राम में मंगरौठ की पुनरावृति हुई, तो सारे देश में महान् नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति फैल जायगी। मुझे यह मानने का कोई कारण नहीं मिलता कि जो कुछ मंगरौठ में हुआ है, वह भारतवर्ष के समस्त ग्रामों में नहीं हो सकता। मगंरौठ के लोग कोई देवता नहीं हैं।

समय पड़ने पर विनोबाजी ने अपने कार्यक्रम में एक नया विषय, सम्पति-दान जोड़ दिया। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह लगता था कि चन्दा जमा करने की यह दूसरी चाल है। वास्तव में यह स्वामित्व को-भूमि का ही स्वामित्व नहीं, बल्कि सब प्रकार की जायदाद के स्वामित्व को—गांधीजी के शब्दों में ट्रस्टीशिप के रूप में परिवर्तित करने के कार्यक्रम का प्रारम्भ था। सम्पत्ति-दान ने यह सिद्ध कर दिया कि नयी क्रान्ति की जो प्रणाली है, वह भू-समस्या तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक क्षेत्र में उसका प्रयोग हो सकता है।

विनोबाजी के आन्दोलन ने इस प्रकार बहुत दिनों से जो प्रश्न मैं पूछ रहा था, उसका जवाब मुहैया कर दिया। प्रश्न था, क्या गांधीजी के तत्त्वज्ञान में सामाजिक क्रान्ति को पूरा करने के लिए कोई व्यवहारिक तरीका उपलब्ध है? गाँधीजी के कार्य को असाधारण प्रतिभा के साथ फैलाकर और विकसित करके विनोबाजी ने प्रमाणित कर दिया कि गांधी-तत्त्वज्ञान में वैसा तरीका है।

अहिंसक समाजवादी क्रान्ति

जैसा मुझे लगता है, यह एक दुहरा तरीका है। इसका एक पहलू बड़े पैमाने पर प्रचार-कार्य है, जिसे गांधीजी परिवर्तन कहते थे। दूसरे शब्दों में लोगों को, वर्ग, पंथ तथा अन्य मत-मतान्तरों का लिहाज रखते हुए यह समझाने के लिए

एक अति व्यापक प्रचार-आन्दोलन शुरू करना है कि वे उन विचारों, जीवन के मार्गों और मूल्यों का परित्याग करके, जो गलत और हानिकर सिद्ध हुए हैं, उनके स्थान में कुछ दूसरे विचारों और जीवन-मार्गों तथा मूल्यों को स्वीकार करें। इस प्रकार विचारों और मूल्यों में क्रान्ति शुरू हो जाती है। इसके साथ ही नये मूल्यों और विचारों का चुनाव इस तरह होता है कि उनका किसी बड़ी सामाजिक समस्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो और उनके स्वीकार करने और उन पर अमल करने से उस समस्या के हल हो जाने और साथ-ही-साथ समाज में एक मौलिक परिवर्तन की जाने की आशा हो। इस बात को खूब अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि यह परिवर्तन भी सम्भव है, जब लोग व्यक्तिगत रूप से भावी समाज के मूल्यों के अनुसार अभी से जीवन बिताना शुरू कर दें। दूसरी क्रान्तियाँ इसीलिए असफल हुई कि उनके कर्णधारों ने ऐसे साधनों का उपयोग किया, जो उनके साध्यों के अनुकूल नहीं थे। उदाहरण के लिए, यदि लक्ष्य एक सत्ता-विहीन समाज था, तो उसकी प्राप्ति के साधन स्वयं राज्य की प्रतिरोधी शक्तियाँ थी; यदि लक्ष्य बन्धुत्व था, तो भाइयों के आपसी संघर्ष को साधन बनाया गया या फिर यदि लक्ष्य जीवन का संचालन करनेवाली स्वार्थपरता से मुक्त होना था, तो समाज के कुछ वर्गों की स्वार्थपरता को सामाजिक क्रान्ति का संचालन करनेवाली शक्ति की तरह इस्तेमाल किया गया। क्रान्ति की सर्वोदय-प्रणाली में साधन और साध्य एक हो जाते हैं। यदि नयी समाज-व्यवस्था में सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व होनेवाला है और सम्पत्ति का मालिक केवल एक ट्रस्टी रहनेवाला है, तो अलग-अलग लोगों के अपने को अभी से ट्रस्टी बना लेने पर क्रान्ति शुरू हो जायगी।

इस प्रक्रिया की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यद्यपि नये विचार और नये मूल्यों पर अमल करना कठिन दीख पड़ता है, तो भी इस प्रकार से कार्यक्रम बनाया गया है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी आसानी से एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते हुए अन्त में लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। उदाहरण के लिए विनोबाजी अपने आन्दोलन के द्वारा इस विचार का प्रचार कर रहे है कि हम अपनी सम्पत्ति के ट्रस्टी मात्र है और इसलिए समाज हमारे हिस्से के रूप में हमें जो कुछ देता है; उससे कुछ भी अधिक पाने के हकदार हम नहीं हैं। इसीलिए वे हमें बस्तियों की तरह रहने और हमारे पास जो कुछ है, उसे सबमें बाँट लेने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में यह एक अति दुर्गम मार्ग दिखाई देता है। विनोबाजी ने इसलिए इस यात्रा को और अधिक सुगम बनाने के लिए पहले पूरी सम्पत्ति के छोटे-से-छोटे अंश का बँटवारा करने की माँग की है। किसी एक व्यक्ति से यदि अकेले ही ऐसा करने को कहा जाता, तो इतना भी करना कठिन हो जाता। अनैतिकता के बीच नैतिक जीवन बिताना कठिन होता है। इसके लिए अधिक सबल प्रयत्नों और उच्च नैतिक साधनों की आवश्यकता होती है। किन्तु जब किसी व्यक्ति के चारों ओर अन्य सब लोग उसी काम में लगे हों, तो दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति के लिए भी ऊँचा उठना सहज हो जाता है। इसलिए परिवर्तन का यह कार्यक्रम, यद्यपि लक्ष्य तो इसका व्यक्ति ही रहता है, जनव्यापी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के समस्त दलों और समुदायों पर इसका प्रभाव पड़ता है और उन्हें इससे प्रेरणा मिलती है।

इस तरीके का दूसरा पहलू स्वावलम्बन और स्व-शासन का एक ऐसा कार्यक्रम शुरु करना है, जिसके द्वारा लोग-पहले वे, जो छोटी बस्तियों में रहते हैं—अपनी व्यवस्था स्वयं करना सीखे और नये विचारों और मूल्यों से प्रभावित होकर सामाजिक जीवन के नये स्वरूप और नयी संस्थाएँ खड़ी करने में एक-दूसरे के साथ सहकार करें। उदाहरण के लिए, भूदान के साथ-साथ ही व्यक्तिगत और क्षेत्रीय स्वावलम्बन की दृष्टि से उत्पादन की योजना है, ग्रामदान का कार्यक्रम है, जो एक नवीन कृषीय अर्थ-व्यवस्था है और ग्राम-स्वराज्य है, जो गाँव में गाँव का राज्य कायम करने का कार्यक्रम है। भूदान, सम्पत्ति-दान और ग्राम-दान के द्वारा अभिव्यक्त वैचारिक क्रान्ति और भूमि के ग्रामीकरण तथा गाम-स्वराज्य के द्वारा स्थापित गाँव के बाह्य संगठन में क्रान्ति दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण क्रान्ति का कार्यक्रम बन जाता है, जो हिंसक और वैधानिक दोनों प्रकार की क्रान्तियों से भिन्न है।

यह एक नयी प्रक्रिया है, जिसका दुनिया को अभी कोई अनुभव नहीं है। नये विचारों के सम्बन्ध में सन्देह और संकोच होना स्वाभाविक है। किन्तु हम भारतवासियों के लिए, जिन्हें सर्वथा नये विचारों और नये तरीकों से—शुरू-शुरु में जिनको इसी प्रकार सन्देह की दृष्टि से देखा गया था और जिनका मजाक बनाया गया था—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त होते हुए देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, विनोबाजी के नये विचारों और नये तरीकों को समझने और मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वे आखिरकार राष्ट्रपिता के द्वारा प्रयुक्त पहले विचारों और तरीकों के विकास और विस्तार के ही द्योतक हैं। हम भारतवासियों को एक और भी सुविधा है, हमारा राष्ट्र आज के समस्त राष्ट्रों में तरुण है, इसलिए हम ऐसी स्थिति में हैं कि दूसरों की सफलताओं और विफलताओं के अनुभव से लाभ उठा सकते हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जनता की सेवा के लिए उत्सुक व्यक्तियों का, देश की सेवा कर सकें, इस दृष्टि से सत्ता

की ओर दौड़ना कदाचित् स्वाभाविक था। किन्तु मुझे आशा है, गत दस वर्षों में, सत्ता के द्वारा सेवा की अयोग्यता और असारता का काफी अनुभव इकट्ठा हो गया है; इसलिए सेवा के लिए उत्सुक देशभक्त व्यक्तियों को बडी-से-बड़ी संख्या में अब सर्वोदय के क्षेत्र में आ जाना चाहिए। सैकड़ों सत्याग्रही लोक-सेवक सर्वोदय के क्षेत्र में पहले आ चुके हैं। ऐसे सैकड़ों, हजारों लोक-सेवकों की और आवश्यकता है।

6. उपसंहार

मुझे आशा है, अब सबकी समझ में आ जायगा कि मैंने राजनीति क्यों छोड़ी। मुझे यह भी आशा है कि लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यह निर्णय नकारात्मक नहीं था। राजनीति की विकृति ने मुझे विचलित नहीं किया, बल्कि सर्वोदय की नयी राजनीति के आकर्षण ने मुझे खींच लिया। चूँकि जैसा मैंने ऊपर बताने का प्रयत्न किया है, सर्वोदय की भी एक राजनीति है; किन्तु यह राजनीति भिन्न प्रकार की है। मैंने इसको 'जनता की राजनीतिक' कहा है, जो सत्ता और दल की राजनीति से सर्वथा पृथक् है। लोकनीति राजनीति से पृथकृ है। सर्वोदय की राजनीति में कोई दल नहीं होता और न सत्ता से ही उसका कोई सम्बन्ध होता है। वस्तुतः इसका लक्ष्य सत्ता के समस्त केद्रों को खतम कर देना है। जितनी अधिक यह नयी राजनीति बढ़ेगी, उतनी अधिक पुरानी राजनीति सिकुड़ेगी। सही अर्थ में यही होगा, राज्य का क्षय।

मैं यह भी कह दूँ कि राजनीति और लोकनीति में किसी प्रकार की शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता और न कभी न मिल सकनेवाली दो भिन्न जातियों की तरह उन्हें अलग ही रखा जा सकता है। लोकनीति राजनीति की सन्तति ही है। दोनों में निरन्तर सम्पर्क और सहकार रहना चाहिए। गणतांत्रिक राजनीति सम्भवतः कभी भी इस विचार का विरोध नहीं कर सकती कि लोग जहाँ तक सम्भव हो, स्व-शासन को अमल में लायें। समस्त गणतांत्रिक दलों को अपने नाम के कारण ही जल्दी-से-जल्दी जनता के हाथों में सत्ता सौपने के लिए प्रस्तुत ही नहीं, बल्कि उत्सुक रहना चाहिए, जैसे कोई भी योग्य पिता अपने पुत्रों के प्रौढ़ होने पर उनके हाथ में सब कुछ सौंपने के लिए उत्सुक रहता है। कार्यभार से अवकाश मिला, तो राज्य-शास्त्र का राजनीति से लोकनीति की ओर विकास कैसे किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में कभी बाद में अपने कुछ नम्र सुझाव देश के आमने रखूँगा।

यह भी मुझे कह देना चाहिए कि मेरी सारी शक्ति यद्यपि लोकनीति का विकास करने में लगी रहेगी, तो भी राजनीति के क्षेत्र में क्या होता है, मैं उसकी ओर से आँख नहीं मूँदूँगा। अच्छा हो या बुरा, राजनीति का एक हद तक लोगों के जीवन पर प्रभाव पड़ता ही है। मैं बाहर से बराबर इसकी और ध्यान रखूँगा कि वह प्रभाव जितना सम्भव हो, कल्याणकारी हो।

इसमें जो खतरे हैं, मैं जानता हूँ। उदाहरण के तौर पर एक खतरा यह है कि लोगों में मेरी बाबत गलतफहमी होगी और यह आरोप लगाया जायगा कि यह मेरी एक राजनीतिक चाल है। यदि इस प्रकार की कोई चीज होती है, तो मुझे खेद होगा। किन्तु सामाजिक जीवन में शायद गलतफहमियों से सर्वथा बचकर नहीं रहा जा सकता। फिर भी अपनी ओर से मैं यह आश्वासन देना चाहता हूँ, मैं प्रत्येक वस्तु को तटस्थ और निर्दलीय दृष्टि से ही देखूँगा। यदि किसी समय मेरे हस्तक्षेप से किसीको क्षोभ हुआ, तो यह सर्वथा मेरा ही दुर्भाग्य होगा।

पटना
25-10-57